उत्तराध्ययन और श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचनमाला-1

सुखी बनो

आचार्य महाश्रमण

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन

सुखी बनो

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

ISBN : 978-81-7195-187-1

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : अगस्त २०११
छत्तीसवां संस्करण : अगस्त २०१४

मूल्य : ८०/-

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

प्रवचन करना मेरा प्रायः प्रतिदिन का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों में मैंने विभिन्न धर्मग्रन्थों को आधार बनाकर प्रवचन किए। परमपूज्य गुरुदेव आचार्य महाप्रज्ञ के इंगितानुसार मैंने श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर शताधिक व्याख्यान दिए। साध्वी सुमतिप्रभा ने उस व्याख्यानमाला के कुछ वक्तव्यों को निबन्धों का आकार दिया। पिछले कुछ वर्षों से वह मेरे वक्तव्यों के संपादन और निबन्धीकरण कार्य में गहरी निष्ठा के साथ संलग्न है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता में विश्वास रखने वाले और उत्तराध्ययन में आस्था रखने वाले तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी बन सकेगी। शुभाशंसा।

केलवा — **आचार्य महाश्रमण**

१८ जुलाई २०११

अनुक्रम

१. परम विजयी बनो	१
२. मूर्च्छा तोड़ो	६
३. समता रखो	१०
४. अनुशासन में रहो	१४
५. कलात्मक जीना सीखो	१८
६. समतामय बनो	२२
७. मोह छोड़ो	२६
८. स्थितप्रज्ञ बनो	२९
९. स्नेह मत करो	३३
१०. इन्द्रिय संहरण करो	३७
११. मन को जीतो	४०
१२. चक्रव्यूह को तोड़ो	४५
१३. भाव शुद्ध रखो	४९
१४. उजाला करो	५२
१५. सुखी बनो	५६
१६. शांति पाओ	५९
१७. इन्द्रिय संयम करो	६२
१८. कर्त्तव्य कर्म करो	६६
१९. संगमुक्त कर्म करो	७०
२०. निर्लिप्त रहो	७३
२१. निष्काम प्रवृत्ति करो	७७

२२. श्रेष्ठता का विकास हो ८१
२३. असक्तभाव से कर्म करो ८४
२४. राग-द्वेष मुक्त रहो ८८
२५. स्वधर्म में रहो ९२
२६. भाव शुद्ध रखो ९५
२७. अणुव्रती बनो ९९
२८. कामचेतना को मंद करो १०२
२९. कामना त्यागो १०६
३०. पापकर्म मत करो १०९
३१. जनकल्याण करो ११२
३२. वीतराग बनो ११७
३३. पुरुषार्थ करो १२०
३४. पंडित बनो १२३
३५. बंधनमुक्त बनो १२७
३६. गतसंग बनो १३०
३७. ऐसे ज्ञान पाओ १३३
३८. नौका से पार पहुंचो १३६
३९. ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो १४०
४०. अनासक्त रहो १४५
४१. भीतर रहो १४८

१

परम विजयी बनो

हमारे जीवन में ज्ञान का बहुत महत्त्व है। ज्ञान से आदमी को प्रकाश, आलोक मिलता है। प्राकृत साहित्य में कहा गया—**नाणं पयासयरं** ज्ञान प्रकाश करने वाला होता है। ज्ञान के अभाव में आदमी अज्ञान रूपी अंधकार से अंधा बना हुआ रहता है। गुरु का जो महत्त्व है उसमें मुख्य आधार यही है कि गुरु ज्ञान देने वाले होते हैं। गुरु ऐसी बात बताते हैं कि जीवन का पथ आलोकित हो जाता है। संस्कृत वाङ्मय में गुरु शब्द पर मीमांसा करते हुए कहा गया है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात्, रुशब्दस्तन्निरोधनम्।
अन्धकारनिरोधित्वात्, गुरुरित्यभिधीयते।।

गु का अर्थ है अन्धकार और रु का अर्थ है उसका निरोध या निवारण करने वाला। अन्धकार का निवारण करने वाला आदमी गुरु कहलाता है। भारतीय संस्कृति में गुरु को बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया है। गुरु की स्तुति में कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

अज्ञान रूपी अन्धकार से जो लोग अन्धे बने हुए हैं, उनकी ज्ञान रूपी अंजनशलाका से जिसने आंखें खोल दीं, उस गुरु को नमस्कार।

महात्मा बुद्ध का प्रसंग है। जब लोग उनके पास आए और कहा—महाराज! हमारे गांव में एक आदमी है। वह न सूर्य को मानता है और न प्रकाश को मानता है। आप उसे समझाइए। बुद्ध ने कहा—समझाने की जरूरत नहीं है। मैं एक वैद्य को बता दूंगा। वह उसकी आंखें खोल देगा। फिर वह अपने आप प्रकाश को मान लेगा। अन्धा आदमी सूर्य को, प्रकाश को क्या मानेगा? उसकी आंखों की चिकित्सा की गई। आंखों में रोशनी आ गई। फिर

उसने स्वतः स्वीकार कर लिया कि सूरज है, प्रकाश है। गुरु का काम है, विद्यार्थी या शिष्य की आंख को उद्घाटित कर देना। साहित्य जगत में अनेक ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं, जिनमें गुरुओं की वाणी है, ज्ञानियों की वाणी है। उस वाणी को पढ़ने से भी प्रकाश मिलता है। भारतीय वाङ्मय में विभिन्न धर्मग्रन्थ हैं। मैं दो ग्रन्थों का उल्लेख करना चाहूंगा। एक ग्रन्थ है श्रीमद्भगवत् गीता और दूसरा ग्रन्थ है उत्तरज्झयणाणि। श्रीमद्भगवद् गीता भारतीय दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें अध्यात्म का पथदर्शन किया गया है और जीवनोपयोगी दिशा-निर्देश भी दिया गया है। श्रीमद्भगवद् गीता में उपदेशकार श्रीकृष्ण हैं और मुख्यतया अर्जुन को संबोधित कर ज्ञान गंगा प्रवाहित की गई है। श्रीकृष्ण की ओर से जो निर्देश दिए गए हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। गीता का प्रारम्भ युद्ध की बात से होता है। युद्ध से प्रारम्भ हुआ वह ग्रन्थ कितना आध्यात्मिक और मार्मिक संदेश अर्जुन को दे रहा है अथवा अर्जुन के माध्यम से श्रोताओं को दे रहा है, यह समझने की बात है। उसे एक दिशा निर्देशक, मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। कोई-कोई बात सबको मान्य न हो परन्तु सामान्य रूप से काफी बातें ऐसी हैं जो हर आदमी के लिए पथदर्शन के रूप में हैं।

उत्तरज्झयणाणि में कितने अध्यात्म के सूत्र और तत्त्वविद्या की गाथाएं प्राप्त होती हैं। प्राकृत भाषा में जिसे उत्तरज्झयणाणि कहा जाता है, उसका संस्कृतीकरण या हिन्दीकरण है उत्तराध्ययन। गीता में जहां अठारह अध्याय हैं वहां उत्तराध्ययन सूत्र में छत्तीस अध्ययन हैं। इसमें घटना अथवा कथाओं के माध्यम से बड़ी सरसता के साथ आध्यात्मिक-वैराग्यवर्द्धक उपदेश दिया गया है और सिद्धान्त व दर्शन की बातें बताई गईं हैं। गीता का प्रारम्भ निम्न श्लोक से होता है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१/१।।

उत्तराध्ययन का प्रारम्भ निम्न गाथा से होता है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।।१/१।।

विनय के निर्देशन के साथ उत्तराध्ययन सूत्र का प्रारम्भ होता है। इन दोनों ग्रन्थों में तुलनात्मक विवेचन भी प्राप्त होता है। दोनों ग्रन्थों की अनेक बातों में हमें समानता का दर्शन भी होता है हालांकि भाषा का अन्तर है। जहां

श्रीमद्भगवद् गीता संस्कृत भाषा का ग्रन्थ है, वहीं उत्तराध्ययन सूत्र प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। संस्कृत और प्राकृत, ये दोनों ही भाषाएं भारतीय तत्त्वविद्या की दृष्टि से, भारतीय वाङ्मय की दृष्टि से, भारतीय संस्कृति और विचारधारा की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों भाषाओं में विपुल साहित्य रचा हुआ है।

पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की सहमति, स्वीकृति और इंगित के अनुसार यह चिंतन किया गया कि मैं श्रीमद्भगवद् गीता पर प्रकाश डालूं और उत्तराध्ययन सूत्र के साथ कुछ तुलनात्मक विवेचन भी करूं, क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय की महान संपदाएं हैं। ज्ञान कहीं से भी मिले हमें विनम्रता से स्वीकार करना चाहिए। सच्ची बात, अच्छी बात किसी ग्रन्थ से मिले, किसी पन्थ से मिले, किसी सन्त से मिले, हमें उसको सादर स्वीकार करना चाहिए। उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए, मनन किया जाना चाहिए। हर आदमी को अच्छाई और सच्चाई को प्राप्त करने का लक्ष्य रखना चाहिए। जहां सच्चाई का प्रसंग हो वहां कौनसा ग्रन्थ, किसका ग्रन्थ यह बात गौण हो जाए। कीचड़ में हीरा पड़ा हो तो आदमी कीचड़ से भी हीरे को उठा लेता है यानी वस्तु अच्छी हो तो वह कहीं से भी मिले उसे ले लेनी चाहिए। श्रीमद्भगवद् गीता में युद्ध की बात के साथ ग्रन्थ का प्रारंभ किया गया है। जैन विचारधारा के अनुसार युद्ध हिंसा है परन्तु हिंसा के जो प्रकार बताए जाते हैं, उस संदर्भ में हम देखें कि वह कौनसी और किस स्तर की हिंसा है? हिंसा के तीन प्रकार हैं—आरम्भजा हिंसा, प्रतिरोधजा हिंसा और संकल्पजा हिंसा।

आरम्भजा हिंसा—जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए खान-पान आदि के लिए आदमी खेती करता है। उसमें जीवों की हिंसा होती है परन्तु वह एक अनिवार्य हिंसा है। आदमी खेती जीवों को मारने के लिए नहीं करता। वह अपने भोजन की दृष्टि से अन्न प्राप्त करने के लिए करता है। वहां उसका मुख्य लक्ष्य भोजन के लिए अन्न प्राप्त करना है, न कि जीवों को मारना है। उसकी दृष्टि हिंसा की नहीं, मुख्यतः अपने शरीर को भरण पोषण देने के लिए अन्न आदि प्राप्त करने की है। हालांकि वहां हिंसा तो हो रही है किन्तु हिंसा का लक्ष्य नहीं है। वह अनिवार्यतावश हिंसा की जा रही है।

प्रतिरोधजा हिंसा—आदमी अपनी रक्षा के लिए कुछ प्रयास करता है। देश की रक्षा के लिए भी कुछ प्रयास करता है। शत्रु सेना आक्रमण कर देती है या आक्रमण करने वाली होती है तो राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सैनिक तैयार हो जाते

हैं, सन्नद्ध हो जाते हैं। कितने-कितने सुरक्षा करने वाले लोग सीमा पर तैनात रहते हैं? उनका उद्देश्य है राष्ट्र की सुरक्षा करना, देश की रक्षा करना। देश की रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़ता है। युद्ध में हिंसा भी होती है। वह प्रतिरक्षात्मक अथवा प्रतिरोधजा हिंसा होती है और वह आवश्यक भी है। युद्ध के लिए शौर्य भी आवश्यक होता है। हर किसी के लिए तो युद्ध लड़ना भी मुश्किल है। जो आदमी भीरु है, डरपोक है, उसको यदि युद्ध के मोर्चे पर भेज दिया जाए तो उसके लिए कठिनाई हो सकती है। सैनिकों में एक भावना होती है। वे राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों को भी खतरे में डालकर युद्ध लड़ने को तैयार हो जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय में युद्ध के बारे में एक अवधारणा दी गई है—

जिते च लभ्यते लक्ष्मीः, मृते चापि सुरांगना।
क्षणभंगुरको देहः, का चिन्ता मरणे रणे।।

अगर तुम जीत जाओगे तो लक्ष्मी प्राप्त होगी, संपदा मिलेगी। यदि तुम लड़ते-लड़ते मर गए तो चिन्ता की क्या बात है? आगे स्वर्ग में सुरांगनाएं स्वागत करने के लिए तैयार खड़ी मिलेंगीं। यह देह तो क्षणभंगुर है इसलिए युद्ध में मरने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

यह एक सैनिक में पौरुष बढ़ाने की बात है और एक अपनी विचारधारा का, एक चिन्तन का स्फुलिंग भी है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को एक ऐसा ही संदेश देते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।२/३७।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! युद्ध में तुम मर जाओगे तो स्वर्ग मिल जाएगा और जीत जाओगे तो धरती का राज्य प्राप्त कर लोगे। इसलिए तुम उठो, कायरता को छोड़ो और युद्ध के लिए कृतनिश्चय, कृतसंकल्प हो जाओ।

जिस प्रकार गीता में युद्ध की बात है उसी प्रकार उत्तराध्ययन में बताया गया है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पामेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए।।९/३५।।

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीतकर मनुष्य सुख पाता है।

आचारांग सूत्र में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा गया है—**इमेणं**

चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ? इस कर्म शरीर के साथ युद्ध कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ?

मोह का पूर्ण रूप से नाश करने के लिए अथवा वीतरागता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपनी आत्मा के साथ, कर्म शरीर के साथ, अपनी इन्द्रियों के साथ, अपने मन के साथ, अपने विकारों के साथ और अपने भावों के साथ युद्ध करना होगा। इस आत्मयुद्ध के लिए भेद विज्ञान रूपी शस्त्र को काम में लेना होगा। यह आत्मयुद्ध ही सबसे बड़ा युद्ध है। प्रश्न हुआ, एक यौद्धा युद्ध में दस लाख यौद्धाओं को जीत लेता है और एक साधक एक अपनी आत्मा को जीतता है। दोनों में बड़ा यौद्धा कौन है? आगमकार ने कहा—जो एक अपनी आत्मा को जीत लेता है उसकी परम विजय होती है। दूसरों को जीतना फिर भी आसान काम होता है किन्तु अपनी आत्मा को जीतना बहुत मुश्किल होता है।

साधक को एक समर्पित सैनिक की तरह हर समय कटिबद्ध रहना चाहिए और निरन्तर आत्मयुद्ध करते रहना चाहिए, एक दिन अवश्य विजय प्राप्त होगी।

जहां श्रीमद्भगवद् गीता के प्रति अनेक लोगों के मन में आस्था का भाव है, अनेक लोग गीता को याद करते हैं। वहीं हमारे अनेक साधु-साध्वियां उत्तराध्ययन को कंठस्थ करते हैं। हमारे दूसरे आचार्य भारमलजी स्वामी के लिए इतिहास बताता है कि वे प्रायः प्रतिदिन उत्तराध्ययन सूत्र का पारायण करते और कई बार तो खड़े-खड़े उसका पारायण करते। हमारे अनेक प्रवचनकार साधु-साध्वियां अपने प्रवचन का आधार उत्तराध्ययन सूत्र को बनाते हैं और जनता को आध्यात्मिक संदेश देने का प्रयास करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में एक गौरवपूर्ण भूमिका का दर्शन होता है।

२

मूर्च्छा तोड़ो

जैन वाङ्मय में धर्म के जो प्रकार बताए गए हैं उनमें राष्ट्र धर्म, ग्राम धर्म भी हैं। ये कर्त्तव्य रूप धर्म हैं। राष्ट्र की व्यवस्था करना, राष्ट्र की सुरक्षा करना राष्ट्र धर्म है। गांव की व्यवस्था करना ग्राम धर्म है। यह कोई आध्यात्मिक धर्म नहीं, कर्त्तव्य रूप धर्म है। आरम्भजा हिंसा और प्रतिरोधजा हिंसा को गृहस्थ की भूमिका में, राष्ट्र सुरक्षा की भूमिका में, देह सुरक्षा की भूमिका में निन्दनीय नहीं माना जाता। कौन आदमी ऐसा होगा जो भोजन नहीं करता, सुरक्षा नहीं करता। भोजन है, सुरक्षा है तो उसके निमित्त में हिंसा भी जुड़ी हुई है। इसलिए आरम्भजा और प्रतिरोधजा हिंसा आवश्यक हिंसा होती है, अर्थ हिंसा होती है।

हिंसा का तीसरा प्रकार है—संकल्पजा हिंसा। आदमी अपने आक्रोश, राग, द्वेष, आवेश, लोभ आदि कारणों से किसी की हिंसा करता है, वह कोई आवश्यक हिंसा नहीं है। अपने रागद्वेषात्मक आवेश के संकल्प से जो हिंसा की जाती है वह संकल्पजा हिंसा है। जैसे किसी युवक को गुस्सा आ गया और उसने पत्नी पर हाथ उठा लिया। इतना ही नहीं कभी-कभी तो उसकी हत्या तक भी कर दी जाती है। वह संकल्पजा हिंसा होती है। इस प्रकार की जो हिंसा होती है वह अनीतिपूर्ण होती है, अन्यायपूर्ण होती है। वह गृहस्थ के लिए भी सर्वथा त्याज्य होती है।

गीता के प्रणयन में मुझे यह बड़ी कुशलता और नैपुण्य की बात लगती है कि युद्ध के प्रसंग से उठाई गई बात कैसे अध्यात्म पर आ जाती है और कैसे अध्यात्म के सूत्र निर्देशित कर दिए जाते हैं। अर्जुन जब युद्ध के समरांगण में पहुंचता है और यह देखता है कि मेरे सामने प्रतिपक्ष में तो सब मेरे ही संबंधी लोग हैं। मेरे सामने कौरव हैं, आचार्य हैं, गुरुजन हैं। मैं किसके साथ युद्ध करूं? अपने स्वजनों को देखकर अर्जुन के मन में मोह भाव आ गया और उस

मोह के कारण वह विषादग्रस्त हो गया। गीता में प्रस्तुत प्रसंग को इस प्रकार बताया गया है—

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
दृष्टवेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।१/२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।१/२९।।

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—हे भगवन्! मैं अपने स्वजनवर्ग को अपने प्रतिपक्ष के रूप में सामने देख रहा हूं, जो हमारे साथ लड़ने के इच्छुक हैं, युयुत्सु हैं। इनको देखकर मेरी स्थिति विचित्र बन रही है। प्रभो! मेरा शरीर विषन्न हो रहा है, मेरा मुख सूखने लग गया है, मेरे स्वर में और शरीर में कम्पन्न हो रहा है, रोमांच हो रहा है और जो धनुष मेरे हाथ में है वह गिरने लग गया है, मेरे शरीर में दाह, जलन लग गई है। मेरे लिए खड़ा रहना भी मुश्किल हो गया है। मेरा मन भ्रमित हो रहा है, मुझे आगे दुर्भाग्य ही दृष्टिगोचर हो रहा है। मैं ऐसी स्थिति में युद्ध कैसे करूंगा? हे प्रभो! मुझे कोई राज्य नहीं चाहिए। न मुझे विजय चाहिए। मुझे कुछ नहीं चाहिए। इस प्रकार अर्जुन ने युद्ध करने के लिए अपने आपको असमर्थ प्रकट कर दिया। अर्जुन के असामर्थ्य का कारण था सामने अवस्थित स्वजन वर्ग के प्रति रागभाव। श्रीकृष्ण ने सोचा—अर्जुन तो मोह में चला गया, मूर्च्छा में चला गया। इसे उपदेश देना चाहिए।

यहां हम हिंसा-अहिंसा के संदर्भ में विचार करें कि अर्जुन के सामने प्रतिपक्ष के रूप में जो वर्ग खड़ा था उसको देखकर अर्जुन ने युद्ध करने के लिए मना कर दिया। यहां ध्यान देने की बात यह है कि अर्जुन ने जो युद्ध न करने की बात कही, वह अहिंसा की भावना से कही है या मोह की भावना से कही है? अगर विशुद्ध अहिंसा की भावना होती तो सामने भले कोई हो, लड़ाई न करने की, किसी भी प्राणी को न मारने की बात होती।

जैन वाङ्मय में कहा गया—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा।** किसी भी प्राणी को मत मारो, यह अहिंसा धर्म है। अर्जुन ने जो युद्ध न करने की, हिंसा न करने की बात कही है उसकी पृष्ठभूमि में, उसकी आधारभूमि में अहिंसा की भावना नहीं है। उसकी पृष्ठभूमि में रागभाव है, मोहभाव है और उस रूप में करुणा है कि सामने वाला वर्ग मेरा आत्मीय है। जैन दृष्टि से इसको विशुद्ध अहिंसा नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध अहिंसा तब होती जब अर्जुन यह कहता कि मैं हिंसा नहीं करूंगा भले कोई भी मेरे सामने हो, आत्मीय हो या अनात्मीय हो। मैं

अहिंसक हूं इसलिए किसी प्राणी को नहीं मारूंगा, युद्ध नहीं करूंगा परन्तु गीता में यह बात स्पष्ट है कि अर्जुन ने युद्ध न करने की बात तब कही जब उसके सामने स्वजन लोग थे। राग की चेतना से उठा हुआ अर्जुन का यह स्वर जब श्रीकृष्ण ने सुना तो उन्होंने अर्जुन को प्रेरणा देते हुए और उसमें शौर्य जगाते हुए कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२/२।।

अर्जुन! तुम्हारे में यह मूर्च्छा का भाव कहां से आ गया? यह मोह तो अनार्यों के द्वारा सेवित है। यह अस्वर्ग्य है यानी स्वर्ग में बाधक है और अकीर्ति करने वाला भी है। इसलिए हे अर्जुन! तुम नपुंसकता को त्यागो। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

गीता के पहले अध्याय में अर्जुन ने अपनी कमजोरी बताई, अपनी भावना बताई और दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि तुम्हारे में यह मोह कैसे आ गया? तुमको मोह ने आक्रांत कैसे कर लिया? यह तुम्हारी क्लीवता है, नपुंसकता है। तुम युद्ध करने से कतरा रहे हो। इस नपुंसकता को छोड़ो और पौरुष जगाओ। नपुंसकता की बात करना, क्लीवता की बात करना, कमजोरी और कायरता की बात करना तुम्हारे जैसे यौद्धा के लिए शोभा नहीं देती है। तुम्हारे में शौर्य होना चाहिए। जो मोह या मूर्च्छा अकीर्तिकर है, तुम्हारे हृदय की दुर्बलता के रूप में है, उसको तुम छोड़ो। मोह करना तुम्हारे लिए शर्म की बात है, लज्जा की बात है।

गीता में मोह छोड़ने का उपदेश दिया गया है। जैनदर्शन भी मोह छोड़ने की बात कहता है। किसी के प्रति रागभाव आ जाना, मूर्च्छा आ जाना, यह राग और मूर्च्छा दोनों मोक्ष में बाधक हैं। और तो क्या, जैनधर्म में तो यहां तक कहा गया है कि गौतम स्वामी का भगवान महावीर के प्रति थोड़ा राग भाव था, चूंकि भगवान महावीर उनके गुरु थे। गुरु के प्रति होने वाला रागभाव भी उनके केवलज्ञान में बाधक बन गया यानी राग और मोह को केवलज्ञान की प्राप्ति में और आगे मोक्ष की प्राप्ति में बाधक माना गया है। गौतम स्वामी का राग प्रशस्त था। उनका किसी महिला के प्रति राग नहीं था, खाने के प्रति राग नहीं था, वस्त्रों के प्रति राग नहीं था, अपने गुरु के प्रति राग था। उस रागभाव को भी जैनधर्म ने त्याज्य माना। आगम बताते हैं कि जब गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से कहा—प्रभो! जिनको मैं दीक्षा देता हूं वे केवलज्ञानी बन

जाते हैं और मैं आपका मुख्य शिष्य अभी तक छद्मस्थ ही हूं। तब भगवान महावीर ने कहा—**चिर संथुओ सि गोयमा....।** गौतम तुम लम्बे काल से मेरे साथ जुड़े हुए हो, चिर-परिचित हो, तुम्हारे मन में मेरे प्रति जो रागभाव है वह इस जन्म का नहीं, पिछले कई जन्मों से चला आ रहा है। यह रागभाव ही तुम्हारे केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक बन रहा है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।३२/२।।

संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होती है।

संपूर्ण ज्ञान का प्रकाशन केवलज्ञान की भूमिका में ही हो सकता है। जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया, उसके लिए दुनिया का कोई भी तथ्य, कोई भी घटना अज्ञात नहीं रहती। किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तब तक संभव नहीं है जब तक राग-द्वेष और मोह दूर नहीं हो जाता है। तात्त्विक भाषानुसार बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है और तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। मोह क्षीण हुए बिना केवलज्ञान प्राप्त हो नहीं सकता। इसलिए केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए जरूरी है कि मोह का नाश हो। जब तक मोह रहेगा तब तक राग-द्वेष भी रहेगा। राग और द्वेष को कर्मबीज के रूप में अभिहित किया जाता है। जब तक ये बीज विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा एकान्त सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। जितना-जितना राग-द्वेष, उतना-उतना दुःख और जितनी-जितनी वीतरागता, उतना-उतना सुख। राग-द्वेष और मोह के क्षय से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

३

समता रखो

जैनधर्म का सार है—समता। इस समता को सामने रखकर साधक साधना करता है परन्तु साधनाकाल में बीच-बीच में विषमता भी आ जाती है। यदि लक्ष्य स्पष्ट होता है और उसकी प्राप्ति के लिए पर्याप्त पुरुषार्थ होता है तो आदमी लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ सकता है। समता को लक्ष्य बनाया है तो प्रयास करते-करते आदमी विषमता के पाश से कभी मुक्त भी हो सकता है। जब मैं गीता को देखता हूं तो मुझे वहां भी समता की बात प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।२/३८।।

अर्जुन ! जय-पराजय, लाभ-हानि तथा सुख-दुःख को समान मानकर युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ। इस सोच के साथ युद्ध करने पर तुम पाप के भागी नहीं बनोगे। पाप का कारण तो विषमता है। तुम विषमता को छोड़ दो और मन में समता को धारण कर लो।

सुख और दुःख को समान कर लेना बड़ी महत्त्वपूर्ण बात भी है और कठिन बात भी है। आदमी के मन में सुखाकांक्षा होती है। वह दुःख से दूर भागना चाहता है। ऐसी स्थिति में सुख और दुःख को समान मानने की बात बड़ी ऊंची बात है। यह एक शाश्वत सत्य है कि आदमी दुःख से डरता है, दूर भागता है। जब दुःख या कठिनाई आती है तो आदमी कितना कष्टापतित बन जाता है। दुःख से आदमी डरे नहीं। इसके लिए आवश्यक है कि सुख में ज्यादा खुशी न करे। अगर सुख में ज्यादा खुशी करता है तो कष्ट में दुःख भी

होना संभव है। इसलिए दोनों पर ध्यान देना चाहिए कि सुख की स्थिति आ जाए तो खुशी न मनाए, शांत व संतुलित भाव में रहे और कष्ट आ जाए तो उससे डरे नहीं, उसको भी शांत भाव से झेलने का प्रयास करे। इसका एक आलम्बन यह बन सकता है कि मैंने कोई ऐसे कर्म किए हैं जिनके फल के रूप में मुझे यह कष्ट मिल रहा है। अगर मैंने पाप किए हैं तो अब मुझे कष्टों से डरना नहीं चाहिए, पूरा भुगतान करना चाहिए। अगर मैंने अच्छे कर्म किए हैं तो मुझे सुख भी मिलेगा, यह भी आशा रखनी चाहिए। दुःख से डरना नहीं और सुख की स्थिति में फूलना नहीं, इस स्थिति का निर्माण हो जाता है तो समता की मंजिल प्राप्त हो सकती है। गीता में इसी बात को बताया गया है कि कभी लाभ मिल जाए अथवा अलाभ हो जाए, दोनों में समता रखो।

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि हमारा जीवन तो बड़ा आराम का जीवन है। गृहस्थ का जीवन बड़ा कष्टमय है। भिक्षा प्राप्त करने के लिए हमें ज्यादा कुछ करना नहीं पड़ता है। हम लोग घरों में जाते हैं और जो भिक्षा मिलती है, वह ले आते हैं। कितना आसान काम है। कठिन काम तो गृहस्थ का है। उन्हें कितना व्यापार-धन्धा करना पड़ता है, हिसाब-किताब रखने पड़ते हैं और कितना कुछ छिपाना पड़ता है। कितना तनाव रहता है।

एक सन्त ने अपने भक्तों से कहा—आप धन्य हैं। आप लोग बड़ा त्याग का जीवन जी रहे हैं।

भक्तों ने कहा—बाबाजी! आपने यह क्या फरमा दिया? त्याग का जीवन तो आपका है। आप बाल ब्रह्मचारी हैं, अपरिग्रही हैं, महाव्रती हैं। त्यागी तो आप हैं। हम तो संसार का जीवन, भोग का जीवन जी रहे हैं।

संत ने कहा—भक्तो! मैंने तो परम सुखों को पाने के लिए, परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए, आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए इन तुच्छ भोगों को त्यागा है। तुमने तुच्छ भोगों के लिए परम सुखों को त्याग दिया। बोलो, बड़ा त्यागी कौन हुआ?

खैर, यह एक बात है परन्तु वास्तव में गृहस्थ का जीवन कुछ कठिन होता है। इसीलिए जैन वाङ्मय उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—**घोरासमं।** यह गृहस्थ आश्रम घोर आश्रम है। गृहस्थ को अर्थ अर्जन के लिए कितना सोचना पड़ता है, क्या-क्या करना पड़ता है? इस सन्दर्भ में साधु का जीवन कुछ आसान हो सकता है। लोग व्यापार करते हैं। उसमें कभी घाटा भी हो सकता है और कभी नफा भी हो सकता है। जब घाटा होता है, मन में कष्ट की

अनुभूति हो सकती है और नफा होता है तो मन प्रफुल्लित हो जाता है परन्तु यह समता की स्थिति में कमी है। लाभ और अलाभ दोनों में सम रहने का अभ्यास होने से घाटे की स्थिति में ज्यादा दुःख नहीं होगा और नफे की स्थिति में ज्यादा खुशी नहीं होगी। हमें अभ्यास यह करना चाहिए कि लाभ-अलाभ में सम रह सकें और समता की दिशा में आगे बढ़ सकें।

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! तुम जीत जाओ अथवा हार जाओ तो जय और पराजय दोनों में समता रखना। श्रीकृष्ण ने युद्ध के प्रसंग में कितनी अध्यात्म की बात बता दी। कभी-कभी ऐसा लगता है श्रीमद्भगवद् गीता में असाम्प्रदायिक तथ्यों का निर्देश मिलता है और उत्तराध्ययन सूत्र में भी अध्यात्म की कितनी गंभीर बातों का निदर्शन है।

जैनदर्शन का मंतव्य है कि जब पूर्ण समता आ जाती है, पूर्ण वीतरागता आ जाती है, उस स्थिति में किसी जीव की अनायास हिंसा हो भी जाए तो पाप नहीं लगता। जैसे—कोई वीतराग साधु चल रहा है, संयोगवश कोई जीव उसके पैर के नीचे आ गया और मर गया तो जैन सिद्धान्त बताता है कि उस वीतराग मुनि को जीव के मरने पर भी कोई पापकर्म का बंध नहीं होगा। यद्यपि हम पूर्णतः तुलना न भी कर सकें परन्तु इतना सत्य है कि जैनदर्शन के द्वारा भी यह बात सम्मत है कि वीतराग अवस्था में कोई जीव मर भी जाए तो उसका पाप उस व्यक्ति को नहीं लगता और गीता में भी कहा गया कि तुम समता में रहो फिर तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

अध्यात्म की साधना का सारपूर्ण निर्देश है कि आदमी को राग-द्वेष मुक्त रहने का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् समता में रहने का प्रयास करना चाहिए। हमारे जीवन में द्वन्द्वात्मक स्थितियां आ जाती हैं। कभी लाभ हो जाता है तो कभी हानि हो जाती है। साधु भिक्षा के लिए जाता है। उसे कभी भिक्षा मिल जाती है और कभी नहीं भी मिलती है। इसी प्रकार आदमी का कभी स्वास्थ्य अच्छा रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है और स्थितियां भी अनुकूल होती हैं तो कभी ऐसा दिन भी आ जाता है कि आदमी का स्वास्थ्य खराब हो जाता है और बाह्य परिस्थितियां भी प्रतिकूल हो जाती हैं। आदमी सुख में हर्षित होता है तो उसे दुःख में शोकाकुल भी होना पड़ा है। समता वह स्थिति है जहां न हर्ष होता है और न शोक होता है। जीवन की स्थिति हो या मृत्यु सामने दिखने लग जाए, दोनों स्थितियों में आदमी समता का अभ्यास करे। कभी निन्दा हो सकती है तो कभी प्रशंसा भी हो सकती है। निन्दा में आदमी मुरझा जाता है और प्रशंसा

में फूल जाता है तो समझना चाहिए कि समता के अभ्यास में अभी कमी है। निन्दा के समय उद्विग्न होना और प्रशंसा के समय अति हर्षित होना साधक की दुर्बलता है।

आदमी का कहीं स्वागत होता है तो कहीं अपमान भी हो सकता है। कहीं स्वागत द्वार बनता है तो कहीं काले झण्डे दिखाने वाले भी मिल सकते हैं। मान और अपमान की स्थितियों में आदमी को सम रहने का प्रयास करना चाहिए। जो आदमी परिस्थितिवश राग और द्वेष में चला जाता है, उसकी अंतरंग शांति आहत हो जाती है। आत्मिक सुख उसे मिलता है जिसकी समता खण्डित नहीं होती है।

जैन वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण आगम आयारो में कहा गया है—**समयं तत्थुवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए** अर्थात् समता का आचरण चित्त की प्रसन्नता का हेतु बनता है। विशिष्ट प्रसन्नता की प्राप्ति का आधार है समता का अभ्यास। समता का एक अर्थ है—निर्विचारता। जहां रागात्मक या द्वेषात्मक विचार नहीं होता वहां समता का आचरण होता है। जितनी-जितनी निर्विचारता, उतनी-उतनी समता और जितनी-जितनी समता, उतनी-उतनी प्रसन्नता। पातंजलयोगदर्शन में भी यही कहा गया है—**निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः।** निर्विचारता की विशिष्टता आ जाने पर आदमी को अंतरंग प्रसाद यानी आध्यात्मिक प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है। आदमी प्रसन्नता का आकांक्षी रहता है परन्तु वास्तविक और स्थायी प्रसन्नता तब प्राप्त हो सकती है जब आदमी समता का अभ्यास कर लेता है। फिर जो प्रसन्नता उभरती है, चित्त की निर्मलता बढ़ती है, दुःखमुक्ति की अनुभूति होती है, वह अपने आपमें अलौकिक और विशिष्ट होती है।

४

अनुशासन में रहो

आर्हत् वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य।।१/१५।।

आदमी अपनी आत्मा का संयम करे क्योंकि आत्मा का संयम करना मुश्किल काम है। दमितात्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

कुछ काम कठिन तो होते हैं पर बड़े लाभदायी होते हैं। इसलिए आदमी को हितकर और कठिन काम करने का भी प्रयास करना चाहिए। आसान काम करना अच्छा है पर आसान हो या कठिन, जो काम हितकर हो, उस पर आदमी को ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। जो अपनी आत्मा पर अनुशासन करता है, अपने आप पर अनुशासन करता है, वह व्यक्ति सुखी बनता है। वह इस लोक में भी सुखी होता है और अगले जीवन में भी सुखी बनता है। इसलिए मनुष्य को आत्मानुशासन का प्रयास करना चाहिए। चाहे विद्यालय हों, सामाजिक संस्थाएं हों, अन्य संगठन हों या व्यक्तिगत जीवन हो। यदि अनुशासन है तो सब ठीक है। लोकतंत्र में स्वातन्त्र्य की बात है परन्तु वहां भी अनुशासन आवश्यक है। कोई यह सोच ले कि लोकतंत्र में कोई कुछ भी करे तो लोकतंत्र ठीक कैसे रह पाएगा? अंग्रेजी में ठीक कहा गया–

Without duty and discipline the deity of democracy shall be hung to death and destruction.

कर्त्तव्यनिष्ठा और अनुशासन के बिना प्रजातंत्र का देवता भी विनाश को प्राप्त हो सकता है। आदमी के जीवन में कर्त्तव्यनिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। जिसका जो कर्त्तव्य है उसके प्रति जागरूक रहना चाहिए। विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में जो शिक्षक, प्राध्यापक, प्राचार्य आदि हैं, वे

अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान हैं और विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते हैं तो विद्या संस्थान अच्छे रह सकेंगे। जहां शिक्षक अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान नहीं है और विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान नहीं है फिर विद्या संस्थान भी स्वस्थ नहीं रह सकता। यही बात उद्योग के क्षेत्र में है। यदि मालिक अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक है और कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक है तो उद्योग की व्यवस्था ठीक रह सकेगी। जहां शोषण होता है, वहां व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। एक मजदूर पूरा काम करता है परन्तु मालिक उसे वेतन कम देने का प्रयास करता है तो मालिक के द्वारा मजदूर का शोषण होता है। एक मजदूर पैसा पूरा लेता है किन्तु काम करने से जी चुराता है तो फिर मजदूर के द्वारा मालिक का या उद्योग का शोषण हो जाता है। कोई एक-दूसरे का शोषण न करे। कर्त्तव्यनिष्ठापूर्वक कार्य किया जाए तो काम अच्छा हो सकता है। धार्मिक संगठनों में भी अनुशासन आवश्यक होता है। अनुशासन नहीं है तो वहां भी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। अनुशासन दूसरों के द्वारा भी होता है परन्तु आत्मानुशासन का विकास हो, ऐसा लक्ष्य रहना चाहिए। आत्मानुशासन विकसित हो जाता है फिर परानुशासन को अनपेक्षित होने का भी मौका मिल जाता है। वह व्यक्ति धन्य है जो परानुशासन को अपने आत्मानुशासन के द्वारा अनपेक्षित बना देता है।

अनुशासन की बात बताना आवश्यक है, सुनना आवश्यक है उससे भी ज्यादा आवश्यक है बताने वाले और सुनने वाले दोनों में अनुशासन का प्रभाव होना चाहिए। जिसमें स्वयं पर अनुशासन न हो वह दूसरों को क्या शिक्षा देगा? कई बार उसका प्रभाव गलत पड़ सकता है। एक आदमी खुद नशा करने वाला है, ड्रिंकिंग करने वाला है, बीड़ी-सिगरेट पीने वाला है, वह सभा में जाकर उपदेश दे कि नशा छोड़ो तो उसकी बात का कितना क्या प्रभाव पड़ेगा? क्योंकि लोग जानते हैं कि वक्ता खुद नशाखोर है, इसलिए स्वयं पर अनुशासन पहले करें। फिर दूसरों पर अनुशासन सार्थक और सफल हो सकेगा। संत लोग पहले स्वयं साधना करते हैं, कठोर नियमों का पालन करते हैं फिर लोगों को छोटे-छोटे नियमों के बारे में बताते हैं। अनुशासन उनके जीवन में बोलता है तब उनकी बात का कुछ अधिक प्रभाव पड़ने की संभावना बनती है। आदमी को कार्य करना होता है, उसमें भी अगर आकांक्षा है तो आत्मानुशासन की कमी है।

आदमी का कर्म करने में अधिकार है, पुरुषार्थ में अधिकार है। उसका फल क्या मिलेगा? उस पर आदमी का अधिकार नहीं हो सकता।

श्रीमद्भगवद् गीता में सुन्दर कहा गया—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।२/४७।।

हे अर्जुन! तुम कर्मों के फल के हेतु मत बनो तथा तुम्हारी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

दार्शनिक विचारधारा में पुरुषार्थ की यशोगाथा गाई गई है, भाग्यवाद की अवधारणा भी बताई गई है और नियतिवाद की अवधारणा भी मान्य रही है। नियतिवाद दुनिया का एक सार्वभौम नियम है। उसके अनुसार यह दुनिया चलती है। नियति में जो होना निश्चित है, वह होता है। दुनिया की नियति में मृत्यु भी एक नियति है। मृत्यु का निश्चित नियम है कि जो जन्मा है एक दिन तो उसको जाना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि जन्म लेनेवाला आदमी मृत्यु को प्राप्त न हो। मृत्यु आने के अनेक द्वार हैं भले वह दुर्घटना से आ जाए, बीमारी से आ जाए, आयुष्यकाल पूरा होने से आ जाए पर मृत्यु का आना निश्चित है। भाग्यवाद, नियतिवाद को जान लेने पर भी आदमी को पुरुषार्थवादी होना चाहिए। पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। अच्छा पुरुषार्थ किया जाता है तो समय आने पर किसी रूप में उसका अच्छा फल मिलना भी संभव है। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया—**उद्योगिनः पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः** उद्योगी पुरुष होता है, पुरुषार्थी होता है, लक्ष्मी उसका वरण करती है। रत्न आदमी की खोज नहीं करता, आदमी रत्नों की खोज करता है। आदमी का काम है पुरुषार्थ करना। भाग्य को प्रधान मानकर पुरुषार्थ को छोड़ देना जीवन की हार है। इसलिए कहा गया कि भाग्यवाद को जानो भले पर भाग्यवाद पर अड़े मत रहो, खड़े मत रहो, पुरुषार्थ करो। कदाचित् तुम्हें पुरुषार्थ करने के बाद तत्काल फल न मिले तो तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह तो नियति का अपना नियम है।

विद्यार्थी पढ़ता है। यदि एक बार फेल हो जाए और पढ़ना ही बंद कर दे तो क्या वह पढ़ पाएगा? आदमी को असफलता मिलने पर निराश नहीं होना चाहिए। उसे सफलता का रास्ता खोजना चाहिए। विद्यार्थी के सामने लक्ष्य है—पढ़ना। शिक्षा प्राप्त करना जीवन के लिए बहुत आवश्यक है परन्तु पढ़ने के साथ-साथ अपने जीवन को गढ़ना भी चाहिए। हम परिवार में कैसे रहें, कैसे सामंजस्य रहे, कैसे एक-दूसरे को सहन करें? इस प्रकार की शिक्षा और संस्कार भी जीवन में आने चाहिए। समझशक्ति बढ़ गई और सहनशक्ति नहीं बढ़ी तो समझना चाहिए एक बड़ी कमी रह गई।

आचार्यश्री तुलसी पाली में विराजमान थे। उस समय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी युवाचार्य अवस्था में थे। कोलकाता के नोपानी स्कूल के प्रमुख लोग आए, वार्तालाप हुआ।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी—आपका नोपानी स्कूल बहुत अच्छा है। आप अच्छी पढ़ाई कराते हैं और फिर बच्चों को दुःखी बनने के लिए घर भेज देते हैं।

आगन्तुक लोगों ने आश्चर्य के साथ पूछा—यह कैसे?

युवाचार्यश्री—आप बच्चों की समझशक्ति को तो बढ़ा देते हैं पर साथ में सहनशक्ति अगर नहीं बढ़ती है तो वे घर-परिवार में जाएंगे, अनेक बातों को देखेंगे। वे बातों को समझ तो लेंगे किन्तु सहन नहीं कर सकेंगे और दुःखी बन जाएंगे।

आगन्तुक लोग—आपकी यह बात ठीक है, ऐसा तो होता है।

युवाचार्यश्री—हम यही कह रहे हैं कि समझशक्ति के साथ सहनशक्ति भी बढ़नी चाहिए। परिवार में सहिष्णुता हो, एक-दूसरे के प्रति हितैषिता हो और अनुशासन हो तो परिवार का माहौल अच्छा बनता है।

अनुशासन परम तत्त्व है। वह जीवन में आ जाता है तो आदमी का जीवन विकासशील बन जाता है और अपने जीवन में शांति का अनुभव भी कर सकता है। गीताकार ने कहा कि तुम कर्म करने के अधिकारी हो, फलाशंसा मत रखो। पुरुषार्थ करने पर कभी सफलता न भी मिले तो मैं कर्म करूंगा ही नहीं, ऐसी भावना तुम्हारे मन में न आए, अकर्म के प्रति तुम्हारे मन में आसक्ति का भाव नहीं जागे। गीता में आसक्ति को छोड़ने का उपदेश दिया गया है और उत्तराध्ययन सूत्र में भी हमें अनुशासन की बात मिलती है, आसक्ति को छोड़ने की बात मिलती है। गीता और उत्तराध्ययन दोनों ऐसे महान ग्रन्थ हैं, जिनमें बड़े सुन्दर सूत्र प्राप्त होते हैं। इन सूत्रों को आधार बनाकर गति करने से आदमी विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

५

कलात्मक जीना सीखो

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए।।१०/१।।

आदमी का जीवन अनिश्चितकालीन है। जैसे वृक्ष का पका हुआ पान कभी भी गिर जाता है इसी तरह मनुष्य का जीवन भी कभी भी समाप्त हो सकता है। जीवनकाल की समाप्ति के बाद फिर कहीं जाना होता है। इसलिए भगवान महावीर ने अपने सुशिष्य गौतम को संबोधित कर कहा–**समयं गोयम! मा पमायए।** हे गौतम! समय मात्र यानी अल्पकाल के लिए भी प्रमाद मत करो, अप्रमाद में रहो, जागरूक रहो, अध्यात्मलीन बने रहो। पाप, व्यसन और आसक्ति में मत जाओ। यह एक प्रकार से जीने की कला के सूत्र हैं। प्राचीन साहित्य में बहत्तर कलाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु यह भी कहा गया कि बहत्तर कलाओं में कोई निष्णात हो जाए, कुशल हो जाए, पंडित हो जाए फिर भी वह व्यक्ति अपंडित है, जो धर्म की कला को नहीं सीखता है। धर्म की कला का ही एक अंश है जीने की कला।

गार्हस्थ्य में अर्थ भी होता है और काम भी होता है। तीसरा तत्त्व है–धर्म। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा–**त्रिवर्गो धर्मकामार्थाश्चतुर्वर्गः समोक्षकाः।** भारतीय विचारधारा में त्रिवर्ग और पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा प्राप्त होती है। त्रिवर्ग में धर्म, काम और अर्थ आता है। चतुर्वर्ग में धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष को माना गया है। अगर मोक्ष की बात को एक बार छोड़ दें क्योंकि वह बहुत दूर की बात है तो वर्तमान जीवन के लिए तीन चीजें हैं–अर्थ, काम और धर्म। आदमी को अर्थ चाहिए और काम भी जीवन में चलता है परन्तु अर्थ और काम उच्छृंखल न हो इसलिए उन पर धर्म का अंकुश

रहना चाहिए। श्रीमद्भगवद् गीता में भी जीवन जीने की कला बताई गई है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।२/४९।।

अर्जुन! तुम समता की शरण में, बुद्धि की शरण में चले जाओ, सुखी बन जाओगे। जो सकाम कर्म है, आसक्तिपूर्ण कर्म है वह बहुत निकृष्ट है, दूर से ही छोड़ने लायक है। बुद्धियोग बड़ा उच्च है। तुम कर्म करते-करते ही बुद्धि में शरण खोज लो। भगवती बुद्धि की शरण में आ जाओ, तुम सुरक्षित हो जाओगे। कर्म में फल की आशंसा रखना बहुत तुच्छ चीज है। तुम उसमें मत जाओ, अकृपण रहो और समता के आश्रय में रहो।

अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश तब हो सकेगा जब जीवन में समता का विकास होगा। समता का विकास नहीं है, विषमता का प्राधान्य है तो आदमी काम में उच्छृंखल बन जाएगा यानी स्वस्त्री, परस्त्री आदि की सीमा भी वहां अध्यातव्य हो जाएगी, स्वदार संयम की सीमा का लंघन हो जाएगा, स्वपति संतोष की सीमा का भी लंघन हो जाएगा और आदमी अतिमात्र काम सेवन करने लग जाएगा। यदि आदमी पैसा कमाने के लिए सच्चाई, प्रामाणिकता की परवाह नहीं करता है और गलत तरीकों से अर्थ का अर्जन करता है तो यहां पहली गलती है कि अर्थ के अर्जन में प्रमाद है और अर्थ की प्राप्ति के बाद उसके उपभोग में असंयम है, यह दूसरी गलती है। गीता की भाषा में समता का अभ्यास करना और उत्तराध्ययन की भाषा में अप्रमाद का जीवन जीना। यह जीवन जीने की कला है।

एक राजा बड़ा परेशान हो गया। सोचा, मैं कहां फंस गया। वह तनावग्रस्त रहने लगा। एक बार एक संन्यासी के पास गया और कहा—संन्यासीवर! मैं बड़ा दुःखी हूं।

संन्यासी ने साश्चर्य कहा—अरे, तुम दुःखी हो! कितने लोग तुम्हारे पीछे-पीछे घूमते हैं। कितने लोग तुम्हारा गुणगान करते हैं और कितने लोग तुम्हारी शरण में आने को आतुर हो रहे हैं, फिर तुम दुःखी कैसे हो?

राजा—महात्मन्! लोग भले मुझे कुछ भी माने, बाहर से तो मैं मुस्कुराता हूं किन्तु भीतर में रोता हूं। हमारी दुनिया में ऐसा भी होता है। कई बार आदमी बाहर से तो हंसता हुआ दिखाई देता है, मुस्कुराता है और भीतर में रोता है। भीतर का रुदन बड़ा दुःखद होता है। आंखों में आंसू नहीं पर भीतर

में जो पीड़ा होती है, उस पीड़ा को कोई शांत करने वाला मिल जाए, वह बड़ा उपकारी होता है।

राजा ने कहा—महात्मन्! आप मुझे कोई ऐसा रास्ता बताएं जिससे मेरा जीवन सुखी बन जाए।

संन्यासी ने भी उत्तराध्ययन और गीता की बात ही बता दी। हम संत लोग धर्मग्रन्थों का कुछ स्वाध्याय करते हैं। कुछ अनुभव भी हो जाते हैं। जब लोग हमारे पास अपने दुःखों को लेकर आते हैं। हम यत्किंचित प्रयास करते हैं उनके दुःखों को दूर करने का या दुःख की अग्नि पर कुछ जलबिन्दु डालने का। उन्हें थोड़ी सी भी शांति मिल जाए तो हमारे द्वारा लोगों पर उपकार हो जाएगा, लोगों का दुःख दूर हो जाएगा और जब इतना पानी पास में हो कि दुःख की पूरी आग को बुझा दें फिर तो कहना ही क्या!

संत ने कहा—भाई! समता की शरण में आना होगा। उत्तराध्ययन में कहा गया—**एवं ससंकप्पविकप्पणासो, संजायई समयमुवट्ठियस्स।** जो समता में उपस्थित हो जाता है उसके संकल्प-विकल्प और दुःख का नाश हो जाता है। संन्यासी ने यही कहा कि दुःखों का नाश करना है तो तुम्हें समता का आश्रय लेना पड़ेगा। समता का आश्रय लेने का मतलब है अनुकूलता के प्रसंग में खुशी न मनाना और प्रतिकूलता के प्रसंग में दुःखी न बनना। यह समता का राजपथ है। इस पर चलना होगा। यह आदमी की कमजोरी है कि वह समस्या से दुःखी बन जाता है। समस्या अलग चीज है, दुःखी होना अलग बात है। हालांकि दोनों का संबंध है परन्तु समस्या आने पर दुःखी होना कोई आवश्यक नहीं है।

किसके जीवन में समस्याएं नहीं आती हैं? बड़े-बड़े महापुरुषों के जीवन में भी समस्याएं आती हैं। हम भगवान महावीर को देखें, गौतम बुद्ध को देखें, राम को देखें, कठिनाइयां तो जीवन में आई हैं परन्तु महापुरुष वह है जो कठिनाइयों के आने पर भी शांत रहता है, दुःखी नहीं बनता। अपने मन को प्रशिक्षित कर रखता है कि मुझे दुःखी नहीं बनना है। ऐसा व्यक्ति महानता के शिखर पर आरोहण कर सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनानि यान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रैव श्वसन्नपि न जीवति।।

जिस आदमी के जीवन में अर्थ, काम और धर्म—ये तीनों हैं, तब तो उसका जीवन संतुलित है। यदि अर्थ और काम के साथ धर्म का योग नहीं है तो उस आदमी के दिन बीत जाते हैं परन्तु वह आदमी जीवित आदमी नहीं है।

कवि ने एक व्यावहारिक उदाहरण दिया है कि जैसे लुहार की धौंकनी संकुचित और विकुचित होती रहती है। वह फैलती और सिकुड़ती है परन्तु संकोच विकोच होने मात्र से उसे सप्राण नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आदमी श्वास लेता है और छोड़ता है जिससे पेट फूलता है और सिकुड़ता है किन्तु पेट के फूलने और सिकुड़ने मात्र से आदमी को सप्राण नहीं कहना चाहिए। आदमी सप्राण तभी है, जब उसके जीवन में धर्म का योग हो, अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश हो। जीना एक बात है और तरीके से जीना अलग बात है। हम तरीके से जीना सीखें। चलना कैसे चाहिए, बोलना कैसे चाहिए, खाना कैसे चाहिए, पढ़ना कैसे चाहिए, सुनना कैसे चाहिए, सोचना कैसे चाहिए आदि बिन्दुओं पर चिन्तन करें। हमारे जीवन की जो क्रियाएं हैं, व्यवहार हैं, उनमें कलात्मकता आ जाए, संयम आ जाए, समता आ जाए और तरीका ठीक हो जाए तो मानना चाहिए कि हमें जीने की कला आ गई।

६

समतामय बनो

आर्हत वाङ्मय का सूक्त है—**समया धम्म मुदाहरे मुणी** मुनि समता धर्म की व्याख्या करे। आदमी समता के अभाव में और आवेश के प्रभाव में कष्टानुभूति करता है। आदमी स्वयं स्वयं को दुःखी बना लेता है। दुःख को पैदा करने वाला मूल व्यक्ति स्वयं होता है। दूसरे निमित्त बन सकते हैं परन्तु सुख-दुःख का मूल कारण स्वयं में निहित होता है। श्रीमद् जयाचार्य ने आराधना नामक ग्रन्थ में यही बात बताई है कि व्यक्ति के अपने ही पुण्य-पाप सुख-दुःख के कारण बनते हैं। जब स्वयं की साधना शिखर तक पहुंच जाती है तब पुण्य-पाप से भी पार, आत्मा से मिलने वाले सुख को व्यक्ति प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद् गीता में समता के बारे में सुन्दर विश्लेषण प्राप्त होता है। वहां कहा गया है कि समता की स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद पुण्य-पाप भी छूट जाते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।२/५०।।

अर्जुन! समता की बुद्धि जब जाग जाती है, व्यक्ति समतावान बन जाता है तो फिर पुण्य और पाप दोनों ही नहीं रहते। यह समत्वरूप योग कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

पापकर्म तो त्याज्य ही हैं। आदमी का आकर्षण पुण्य की तरफ होता है परन्तु अध्यात्म की दृष्टि से विचार किया जाए तो वह भी छोड़ने योग्य है। जैन तत्त्वविद्या में हेय-ज्ञेय-उपादेय की चर्चा आती है। पुण्य और पाप दोनों को हेय यानी छोड़ने योग्य बताया गया है।

जैन वाङ्मय में कहा गया कि पुण्य की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। पुण्य की वांछा करना गलत है। प्राकृत साहित्य में कहा गया—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ।।

पुण्य से घर में धन होता है, धन से मद, मद से मतिमोह (बुद्धिभ्रम) और मतिमोह से पाप होता है। इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे।

पुण्य से भले एक बार संपदा मिल गई, वैभव मिल गया परन्तु वह संपदा भी दुर्गति की ओर ले जाने वाली बन सकती है। आदमी सामान्यतया नरक में जाना नहीं चाहता। वह स्वर्ग में जाना चाहता है परन्तु जैन वाङ्मय में कहा गया कि स्वर्ग में जाने की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए यानी पुण्य की इच्छा नहीं करनी चाहिए। आचार्य भिक्षु जब अंतिम समय में थे, उनसे कह दिया गया कि स्वामीनाथ! आप तो स्वर्ग में पधारेंगे। स्वामीजी ने तत्काल कहा—मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए। तुम लोग भी इसमें मत उलझो। सब मोक्ष की कामना रखो। हमें स्वर्ग की कामना नहीं करनी चाहिए। स्वर्ग तो भौतिक है, वह भी कभी छूट जाएगा। मोक्ष मिलने के बाद वह कभी नहीं छूटेगा। इसलिए कामना करो तो मोक्ष की करो। गीता में भी यही बात कही गई है कि जो समता बुद्धि से युक्त हो जाता है, वह व्यक्ति पुण्य और पाप दोनों का परित्याग कर देता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योग साधना के लिए प्रयास करो, अपने आपको समतामय बना लो, स्वयं को समता में अर्पित कर दो।

प्रश्न हुआ, योग क्या है? श्रीकृष्ण ने कहा—**योगः कर्मसु कौशलम्** कर्मों में, कार्यकलापों में कुशलता ही योग है। समता कुशलता है। हम विचार करें कि समता कुशलता कैसे होती है? हम व्यवहार के धरातल पर देखें, एक आदमी को आवेश बहुत आता है, बार-बार गुस्सा करता है, किसी से कोई बात हो जाती है और वह गुस्से में आ जाता है तो उसकी व्यवहार की कुशलता नहीं रहती। अगर व्यवहार में समता है तो व्यवहार कुशल हो जाएगा। कोई आदमी किसी के साथ मित्रता का संबंध बनाता है परन्तु लोभ का भाव जाग गया और मित्र को ठगने की चेष्टा करने लगा। कदाचित् उस मित्र को यह ज्ञात हो जाए कि यह तो मुझे ठगना चाहता है, फिर मित्रता को टूटने में कितनी देर लगेगी? वहां समता नहीं रही यानी विषमता आ गई तो मित्रता भी टूटने की स्थिति में आ गई। अगर समता होती तो मित्रता अच्छी बनी रह सकती थी। लोभ नहीं रहता, शुद्ध हितैषिता रहती तो प्रेम और मित्रता को टिकने का मौका मिलता। आदमी कोई काम करता है अगर उसके दिमाग में तनाव है तो उसके स्वास्थ्य पर भी असर आ सकता है, बौद्धिक कार्य करने में कुछ कठिनाई पैदा हो सकती है क्योंकि दिमाग में विषमता है। अगर समता

है, प्रसन्नता है तो आदमी काम अच्छा कर सकेगा और शांति से सो पाएगा। तनाव है तो नींद में भी बाधा आ सकती है। गीताकार ने जो कहा कि समतावान व्यक्ति पुण्य और पाप दोनों का परित्याग कर देता है। हमें ऐसी ही बात उत्तराध्ययन में मिलती है। वहां कहा गया है—**वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ।**

जैन कर्मवाद में आठ कर्म बताए गए हैं। उनमें चार कर्म घाती माने गए हैं। वे एकान्त अशुभ होते हैं, पापकारी होते हैं। चार कर्म अघाती माने गए हैं, जो पुण्य पाप दोनों रूप में होते हैं। वे चार कर्म हैं—वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म। जब व्यक्ति पूर्ण वीतराग बन जाता है और चौदहवां गुणस्थान समाप्त होता है, ये चार कर्म एक साथ क्षीण हो जाते हैं। आत्मा पूर्णतया कर्ममुक्त हो जाती है और मोक्ष में चली जाती है। जैसे सघन वर्षा होती है तो गन्दगी को भी बहने का मौका मिलता है। एक ऐसा प्रवाह बहता है चौदहवें गुणस्थान के अन्त में या सिद्ध स्थिति के प्रथम समय में कि वह सारी गन्दगी यानी पुण्य पाप जो भी कर्म हैं सब एक साथ नष्ट हो जाते हैं, आत्मा पूर्णतया अकर्म बन जाती है और मोक्ष में जाकर विराजमान हो जाती है।

जैन तत्त्वविद्या को जानने वाले लोग समझ सकते हैं कि जो साधक वीतराग बन जाता है, पूर्ण समतावान बन जाता है, उसमें ग्यारहवां, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान पाता है। ग्यारहवां उपशान्तमोह गुणस्थान, बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान, तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थान, चौदहवां अयोगी केवली गुणस्थान है। यह ज्ञातव्य है, ग्यारहवें गुणस्थान में जो गया है वह वापस कभी सराग बनेगा, अवश्य नीचे गिरेगा, उसका नियम है। प्रश्न हुआ कि फिर ग्यारहवें गुणस्थान को वीतराग क्यों कहा गया? समाधान दिया गया कि जब तक ग्यारहवां गुणस्थान रहेगा तब तक राग-द्वेष नहीं रहेगा, वहां से गिरने के बाद ही राग-द्वेष आएगा। इसलिए वह गुणस्थान भी वीतराग की कोटि में लिया गया है। ग्यारहवां गुणस्थान एक बंद गली के समान है। कोई राहगीर बंद गली में चला जाता है और उसे जाना कहीं और है तो उस गली से उसे वापस आना पड़ेगा। फिर दूसरा रास्ता लेकर अपने गंतव्य की ओर जाना होगा। साधक भी चलते-चलते इस उपशांत मोह की बंद गली में चला जाता है, उसे भी वापस आना पड़ता है, फिर दूसरा रास्ता लेकर मोक्षरूपी मंजिल की ओर आगे बढ़ता है। वह दूसरा रास्ता है क्षीणमोह गुणस्थान, जो मंजिल तक ले जाने वाला है।

गीता में भी यही कहा गया कि जो समातवान है वह पुण्य और पाप दोनों को छोड़ देता है और परमात्मा की स्थिति प्राप्त होने के बाद पुण्य पाप का बंध भी नहीं होता है। यही सिद्धान्त जैनदर्शन का है कि मोक्ष में जाने के बाद, परमात्मा बन जाने के बाद किसी भी कर्म का बंध नहीं हो सकता। न पाप कर्म का बंध हो सकता है और न ही पुण्य कर्म का बंध हो सकता है, वहां बिल्कुल विशुद्ध आत्मा की स्थिति रहती है।

जब तक रागद्वेष रहेंगे, दुःख का कारण बना रहेगा और जन्म-मरण की परम्परा का बीज भी बना रहेगा। इसलिए हमारी साधना का एक ही मुख्य लक्ष्य रहना चाहिए कि हम समता को पुष्ट करें। पारिवारिक जीवन में कहीं राग-द्वेष है, लड़ाई-झगड़ा है तो कहीं विलासिता है, मनोरंजन है। दोनों प्रकार की स्थितियां परिवार में देखने को मिल सकती है। जहां समूह है वहां ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है और कभी-कभी साधु-साध्वियों में भी किंचित् मात्रा में कलह की स्थिति पैदा हो जाती है क्योंकि उनमें भी द्वेष और राग का भाव विद्यमान है। इन स्थितियों को दूर करने के लिए समता का भाव पुष्ट हो, यह नितान्त अपेक्षा है। यदि गार्हस्थ्य में मनोरंजन है तो अध्यात्म की साधना के द्वारा कुछ आत्मरंजन करने का भी अभ्यास करना चाहिए। गार्हस्थ्य में भोग है तो योग साधना का अभ्यास भी करना चाहिए। गृहस्थ जीवन में राग है तो त्याग भी साथ में होना चाहिए। **नहि रागसमं दुक्खं नहि त्यागसमं सुखम्** राग के समान तो दुःख नहीं है और त्याग के समान सुख नहीं है। जितना-जितना राग बढ़ेगा, भोग बढ़ेगा उतना-उतना दुःख बढ़ेगा। जितना-जितना त्याग बढ़ेगा उतना-उतना आत्मिक सुख, परमशांति का अनुभव होगा। हमारी सम्मुखता संयम की ओर हो, आत्मरंजन की ओर हो। आदमी का जब लक्ष्य बन जाता है और पुरुषार्थ होता है तो फिर मंजिल की प्राप्ति भी संभव हो सकती है।

७

मोह छोड़ो

मोह एक राजा है। उसके सैनिक हैं अंहकार और ममकार। अंहकार में आदमी आता है तब दूसरे की परवाह नहीं करता, नम्रता समाप्त या गौण सी हो जाती है और कभी-कभी इतना ज्यादा अहंकार आता है, आदमी मदोन्मत्त सा हो जाता है। जैसे मदिरापान से आदमी उन्मत्त हो जाता है वैसे अहंकार से भी उन्मत्त हो जाता है। इसको त्यागकर आदमी सुखी बन सकता है। श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।२/५२।।

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को भलीभांति पारकर जाएगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक संबंधी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

मोह एक प्रकार का कीचड़ है, दलदल है। दलदल में कोई हाथी फंस जाए तो उसकी क्या स्थिति होती है? दसवेआलियं की चूलिका में बताया है–

पुत्तदारपरिकिण्णो मोहसंताणसंतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ।।१/८।।

साधु किसी कारण से साधुत्व को छोड़कर घर चला जाता है, परिवार में फंस जाता है। पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ, मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी। हाथी ज्यों-ज्यों कीचड़ से निकलने का प्रयास करता है, त्यों-त्यों पांव और अन्दर चला जाता है। उसकी कैसी दयनीय स्थिति बन जाती है? जो साधु साधुत्व के नंदनवन को छोड़कर घर परिवार में चला जाता है, फिर पत्नी, बेटे, पोते आदि हो जाते हैं। वह उसमें ऐसा फंसता है जैसे कोई हाथी दलदल में फंस जाता है। बाद में वह

व्यक्ति पश्चात्ताप करता है अरे! मैं कहां फंस गया? नंदनवन सा धर्मशासन था। मैं वहां आनंद में था, वहां से मैं यहां क्यों आ गया? श्रीमज्जयाचार्य ने एक गीत में लिखा है–

नंदनवन भिक्षु गण में वसोरी।
हे जी प्राण जाय तो ही पग म खिसोरी।।

नंदनवन रूपी इस शासन में रहो। प्राण भले चले जाएं पर शासन को छोड़ने का विचार कभी मत करो, परन्तु आदमी कभी आवेश में आ जाता है या साधना में मन नहीं लगता है तो मोहग्रस्त होकर धर्मशासन रूपी नंदनवन को छोड़ देता है और दलदल में जाकर फंस जाता है। फिर वहां से निकलना मुश्किल हो जाता है। आचार्य भिक्षु की भाषा में–

उजळा ने मेला कह्या जोग।
मोह करम संजोग विजोग।।

हमारा योग उज्ज्वल तब रहता है जब मोह कर्म से मुक्त होता है। मोह से युक्त जब मन, वचन, काय हो जाते हैं तो योग मैले, गंदे हो जाते हैं। मोह एक ऐसी गंदगी है, जब लग जाती है तो चेतना भी विकृत बन जाती है। आदमी जागरूक रहे कि मोह का पंक कहीं लग न जाए, इससे दूर रहने का प्रयास करना चाहिए। जब बुद्धि मोह से मुक्त हो जाती है, मोह के दलदल से निकल जाती है तब विरक्ति का भाव प्राप्त होता है। गीता में मोह शब्द आया है। उत्तराध्ययन में भी मोह शब्द आया है। वहां कहा गया है–**अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।**

अज्ञान और मोह का क्षय होने से आत्मा एकांत सुखमय मोक्ष को प्राप्त होती है।

अज्ञान और मोह में एक आंतरिक संबंध है। ज्ञान को अज्ञान बनाने वाला दर्शनमोह है। उत्तराध्ययनकार ने जहां यह कहा कि अज्ञान मोह है इसको छोड़ो, मोह का विवर्जन करने से एकांत सुख, जहां दुःख हो ही नहीं सकता, मात्र सुख ही है, ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त हो जाओगे। वहीं गीताकार ने भी ऐसी ही बात कही कि तुम मोह को पार कर दोगे तो निर्वेद, जो अपने आपमें सुख होता है, को प्राप्त हो जाओगे। गीता और उत्तराध्ययन में भावों की भी काफी समानता है और कहीं-कहीं शब्दों की भी समानता मिलती है।

आसक्ति और विरक्ति ये दो छोर हैं। एक आसक्ति का छोर है और एक विरक्ति का छोर है। हमें आसक्ति से चल कर विरक्ति तक पहुंचना है। हम ज्यों-ज्यों आसक्ति से विरक्ति की आरे आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों आसक्ति कम

होती चली जाएगी और विरक्ति हमारे निकट होती चली जाएगी। जिस स्थान से आदमी गंतव्य की ओर प्रस्थान करता है, वह स्थान धीरे-धीरे दूर हो जाता है और गंतव्य धीरे-धीरे निकट होता चला जाता है। यदि कपड़ों में आसक्ति है, मोह भाव है तो यह मोह भाव वीतरागता की प्राप्ति में बाधा है। परिवार में रहते हुए भी अनासक्ति की चेतना प्रज्वलित हो, साधक का ऐसा प्रयास रहना चाहिए। जैसे धाय माता शिशु का पालन पोषण करती है परन्तु मन में सोचती है कि लड़का मेरा नहीं है। मेरा काम तो इसकी सेवा करना है। वैसे ही साधक यह सोचे कि परिवार में मुझे रहना है। परिवार की सेवा करना मेरा फर्ज है परन्तु परिवार वास्तव में मेरा नहीं है। मेरी आत्मा मेरी है। मेरी साधना मेरी है। यह अनासक्ति का अभ्यास है।

हमें आसक्ति से अनासक्ति की ओर आगे बढ़ना है। जितनी-जितनी आसक्ति होगी, हम उतने ही मोह के पंक में फंसते जाएंगे। हमें कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए, जो हाथ पकड़कर कीचड़ से बाहर निकाल दे और हम अनासक्ति के नंदनवन में पहुंच जाएं। आसक्ति दलदल है, अनासक्ति नंदनवन है। हमें उस दलदल से निकलकर नंदनवन में जाना है। वहां सैर करना है, घूमना है। मोह के अनेक रूप हैं। मात्र ममता ही मोह नहीं है, गुस्सा करना भी मोह है, अहंकार भी मोह है, कामवासना भी मोह है और मेरापन का भाव आना भी मोह है। हम अनेक रूपों में मोह को देखें। मोह के परिवार को समझें और अपने आपको मोह के परिवार की पकड़ से निकालने का प्रयास करें। हमें मोह की पकड़ से निकलने के लिए थोड़ा पराक्रम करना होगा, पुरुषार्थ करना होगा। मोह का प्रभाव होता है तब आदमी बेईमानी करता है, धोखाधड़ी करता है। पैसा पास में है, कोई कमी की बात नहीं पर ऐसी लालसा आकांक्षा जाग जाती है कि और पैसा चाहिए, इसलिए वह गलत कारनामों में भी चला जाता है। हम ऐसा अभ्यास करें कि मोह को पार कर सकें, हालांकि मैं मानता हूं मोह को पूरा पार करना अभी कुछ कठिन हो सकता है। खैर हम पूरा पार न भी कर सकें, कुछ तो पार करें। मोह की सघनता को कुछ तो कम करें। आगम वाङ्मय में एक शब्द आता है **पयणु।** साधु पूरा वीतराग न भी बन सके किन्तु पृतनु क्रोध, मान, माया, लोभ वाला तो बने। उसका गुस्सा भी थोड़ा मंद हो, अहंकार भी मंद हो, माया भी कम और लोभ भी प्रायः शांत हो, साधु को ऐसी स्थिति का निर्माण कर लेना चाहिए। हम मोह की सघनता को कम करने का, उसकी तीव्रता को मंदता में ले जाने का प्रयास करें तो एक समय आएगा, हम मोह को पूरा पार कर लेंगे और गीता व उत्तराध्ययन की बात हमारे जीवन में चरितार्थ हो जाएगी।

८

स्थितप्रज्ञ बनो

आदमी प्रसन्न रहना चाहता है। प्रसन्नता के समय सुखानुभूति होती है और जब विषण्णता आ जाती है, आदमी दुःखानुभूति करता है। शास्त्रकार ने कहा कि अपने आपको प्रसन्न बनाने के लिए समता का अभ्यास करो, समता की साधना करो, प्रसन्नता प्राप्त होगी। प्रेक्षाध्यान साधना के प्रयोग में कहा जाता है—गहराई से देखो। बिना प्रियता और अप्रियता के जो कुछ हो रहा है, उसे ज्ञाता द्रष्टा भाव से देखो, रागद्वेष में मत जाओ। यह समता का अभ्यास है। स्थितप्रज्ञता और समता एक ही चीजें प्रतीत होती हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण बताए गए हैं, उसमें भी यह बताया गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।२/५६।।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—स्थितप्रज्ञ वह होता है जो कठिनाई में उद्विग्न नहीं बनता। कष्ट शारीरिक भी हो सकता है, मानसिक भी हो सकता है और वाचिक भी हो सकता है। शरीर में बीमारी हो गई, बुखार हो गया, दर्द होने लग गया तो भी कठिनाई हो जाती है और बड़ी बीमारी हो जाए तो और ज्यादा कठिनाई हो जाती है। कभी सर्दी से तकलीफ हो जाती है, गर्मी से तकलीफ हो जाती है, कभी वर्षा से भी तकलीफ हो जाती है। अनेक रूपों में शारीरिक कष्ट पैदा हो सकता है। शारीरिक कष्ट उत्पन्न हो जाए, उसमें जो व्यक्ति उद्विग्न नहीं बनता, शांत रहता है, कठिनाई को शांत भाव से झेलता है, सहन करता है, यह स्थितप्रज्ञता का एक लक्षण है। दूसरा लक्षण है सुख सुविधा मिल जाए या सुख सुविधा मिलने की संभावना हो तो उसमें स्पृहा न करना। आगमकार ने कहा—जो साधु सुख में स्वाद लेने वाला होता है, आराम के लिए आकुल रहने वाला होता है, ऐसे साधु के लिए सुगति मुश्किल है।

सुगति के लिए साधना चाहिए, तपस्या चाहिए। जो व्यक्ति एशो आराम में रस लेता है, सुविधावादी है उसके लिए सुगति दुर्लभ हो जाती है।

दो बालक पढ़ने के लिए गुरुकुल में उपाध्याय जी के पास गए।

उपाध्यायजी—पहले एक सप्ताह तुम्हारी परीक्षा होगी। मैं अपने ढ़ंग से तुम्हारा परीक्षण करूंगा। एक सप्ताह तक मैं जहां कहूं वहां रहो और जो तुम्हें मिले वह खाओ। फिर मैं निर्णय करूंगा कि तुम्हारा गुरुकुल में रहना संभव है या नहीं। दोनों लड़कों को एक-एक कुटीर रहने के लिए दिए गए। भोजन बड़ा सीधा-साधा मिलता। एक सप्ताह बीता, दोनों को उपाध्यायजी ने बुलाया और पूछा—बोलो, तुम्हें मेरी यह व्यवस्था मंजूर है?

एक लड़का बोला—उपाध्यायजी! मैं तो ऐसी व्यवस्था में नहीं रह सकता। मैं धनवान घर का लड़का हूं। इतना सादा भोजन और एक कुटीर में रहना मेरे लिए संभव नहीं है। उसने अपने आप ही वहां अध्ययन करने से अस्वीकार कर दिया।

दूसरा विद्यार्थी बोला—गुरुदेव! आप जहां रखेंगे वहां रहूंगा और जो देंगे वह खाऊंगा। मुझे तो आपसे ज्ञान लेना है। मैं ज्ञान का पिपासु हूं, ज्ञानार्थी बन कर आया हूं। आप इससे भी कड़ी व्यवस्था देंगे तो भी मुझे मंजूर है।

उपाध्यायजी ने उसको स्वीकृति दे दी। वह वर्षों तक वहां रहा और विद्वान व्यक्ति बन गया।

जो सुख सुविधा का अर्थी है उसे विद्या कहां से मिलेगी? जो विद्यार्थी है उसे सुख सुविधा कैसे मिलेगी? अगर वास्तव में विद्यार्थी है तो सुख सुविधा का त्याग करना चाहिए। अगर सुख सुविधा चाहिए तो विद्या का त्याग कर देना चाहिए। दोनों में साम्य कठिन है। या तो सुख मिलेगा या विद्या मिलेगी। जिसे विद्या प्राप्त करना है, उसे बहुत कुछ सहना होता है। अपने आपको विद्या के लिए अर्पित करना होता है। व्याकरण सीखने की दृष्टि से कहा गया—

खान-पान चिंता तजै, निश्चय मांडै मरण।
घो.ची.पू.ली. करतो रवै, जद आवै व्याकरण।।

खान-पान को छोड़ो यानी यह चाहिए वह चाहिए यह सब छोड़ो, सामान्य भोजन करो और अध्ययन के लिए अपने आपको समर्पित कर दो। घो यानी घोकना, रटना। ची यानी चितारना, दोहराना, पुनरावर्तन करना। पू यानी पूछना और ली यानी लिखना। यह क्रम चले तो व्याकरण आत्मसात हो सकती है। अनेक लोग ऐसे हैं जो व्याकरण में रुचि नहीं रखते हैं। वे सीधा बोलना

सीखना चाहते हैं परन्तु मेरा यह मानना है कि अगर गंभीर अध्ययन करना है तो व्याकरण का ज्ञान करना चाहिए। भले संस्कृत भाषा हो, भले प्राकृत भाषा हो, भले अंग्रेजी भाषा, राजस्थानी भाषा या हिंदी भाषा हो, व्याकरण का ज्ञान करना चाहिए। व्याकरण का ज्ञान करने से भाषा का शुद्ध प्रयोग हो सकता है। व्याकरण का ज्ञान नहीं है तो कभी क्रिया की गलती, कभी कर्त्ता की गलती, कभी कहीं गलती यानी गलती होने की संभावना रहती है।

स्थितप्रज्ञ वह होता है जिसका राग चला गया, भय चला गया, गुस्सा चला गया। पदार्थ को देखते ही उसको प्राप्त करने की आकांक्षा होना, व्यक्ति के प्रति रंजित हो जाना, पदार्थों के प्रति रंजित हो जाना, यह राग की वृत्ति है। यदि व्यक्ति या पदार्थ के प्रति आकर्षण है तो मानना चाहिए स्थितप्रज्ञता में अभी कमी है। स्थितप्रज्ञ बनने के लिए राग भाव को, आकर्षण भाव को, आकांक्षा के भाव को छोड़ना चाहिए। न किसी जानवर का भय, न किसी भूत-प्रेत का भय और न किसी अन्य का भय। आदमी की कमजोरी है कि वह डर जाता है। डर से कभी बड़ा नुकसान भी हो सकता है।

चायना का प्रसंग है। एक आदमी जा रहा था। मार्ग में उसे एक देवी मिली। उसने पूछा—आप कौन हैं?

देवी—मैं महामारी हूं।

व्यक्ति—कहां जा रही हो?

देवी—अमुक नगर में जा रही हूं।

व्यक्ति—वहां क्या करोगी?

देवी—मैं वहां जाकर चार हजार मनुष्यों को बीमारी से आक्रांत करके मारूंगी। यह मेरा लक्ष्य है।

महामारी आगे बढ़ी। अपने गंतव्य स्थान पर पहुंची। वहां बीमारी फैल गई। कई दिनों बाद वापस महामारी जा रही थी और संयोगवश वही आदमी आ रहा था। दोनों का फिर मिलना हो गया।

व्यक्ति—तुमने कहा था कि मैं चार हजार मनुष्यों को मारने के लक्ष्य से वहां जा रही हूं किन्तु हमें खबर मिली है कि वहां तो आठ हजार आदमी मर गए।

महामारी—वास्तविकता यह है कि मैंने तो चार हजार व्यक्ति ही मारे थे। शेष चार हजार तो मेरे भय से अपने आप ही मर गए।

गीताकार ने कहा कि स्थितप्रज्ञ बनने के लिए भयमुक्त होना होगा। अभय का विकास करना होगा। हम चिन्तन करें, हमारे में भय है या नहीं? कल्पना करें अगर हमें श्मशान में रात को अकेला रहना पड़े तो क्या हम रह सकते हैं? इतना अभय का विकास हमारे में कहां है? हां, आचार्य भिक्षु तो श्मशान में भी अपने साधुओं के साथ छतरी में रह गए और केलवा की अंधेरी ओरी में भी रह गए। मानो उनकी अभय की साधना कुछ सिद्ध हो चुकी थी। यदि हम कभी राग में चले जाते हैं, कभी गुस्से में आ जाते हैं इसका मतलब है हम दूसरों के हाथ के खिलौने बने हुए हैं। हमें कोई खुश कर दे, कोई नाराज कर दे, फिर हमारा अधिकार हमारे ऊपर कहां रहा? हम तो दूसरों के हाथ की कठपुतली बन गए। कठपुतली होती है, उसे नचाने वाला नचा देता है परंतु साधक को कठपुतली नहीं बनना है। वह स्वयं अपने पर संयम रखे, न गुस्से में जाए और न खुशी में जाए। इस प्रकार जो राग, भय और क्रोध को जीत लेता है वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बन सकता है। गीता और उत्तराध्ययन दोनों का सार यही है कि समता का विकास हो जाए। समता सिद्ध हो जाए तो स्थितप्रज्ञता भी आ जाएगी और वीतरागता भी आ जाएगी।

ਪਾਪ ਅਤੇ ਮੁਕਤੀ

੬

ਸਾਡੇ ਸਮੇਂ ਵਿਚ ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਬਾਰੇ ਬਹੁਤ ਘੱਟ ਲਿਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਮੈਂ ਇਹ ਨਹੀਂ ਕਹਿੰਦਾ ਕਿ ਲੋਕ ਪਾਪ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਮੰਨਦੇ, ਪਰ ਇਹ ਜ਼ਰੂਰ ਕਹਿੰਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਨੂੰ ਬਹੁਤ ਘੱਟ ਲੋਕ ਗੰਭੀਰਤਾ ਨਾਲ ਲੈਂਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਦਾ ਕਾਰਨ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਅਸੀਂ ਪਾਪ ਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਦੇਖਦੇ। ਅਸੀਂ ਪਾਪ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਆਪ ਵਿਚ ਦੇਖਦੇ ਹਾਂ, ਜਾਂ ਫਿਰ ਆਪਣੇ ਸਮਾਜ ਦੇ ਸੰਦਰਭ ਵਿਚ ਦੇਖਦੇ ਹਾਂ। ਪਰ ਪਾਪ ਦੀ ਅਸਲ ਸਮੱਸਿਆ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਤੋਂ ਵੱਖ ਕਰਦਾ ਹੈ।

ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਲਈ ਸਾਨੂੰ ਪਹਿਲਾਂ ਇਹ ਸਮਝਣਾ ਪਵੇਗਾ ਕਿ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਕੌਣ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਵਰਗਾ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਵੱਖਰਾ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਉੱਚਾ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਮਹਾਨ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਪਵਿੱਤਰ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਸ਼ਕਤੀਸ਼ਾਲੀ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਬੁੱਧੀਮਾਨ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਜਾਣਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਦਇਆਵਾਨ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਕਿਰਪਾਲੂ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਧੀਰਜਵਾਨ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਵਫ਼ਾਦਾਰ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਨਿਆਂਕਾਰ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਨਿਆਂਪੂਰਨ ਹੈ।

ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੀ ਇਸ ਮਹਾਨਤਾ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਬਹੁਤ ਗੰਭੀਰ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਤੋਂ ਵੱਖ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਵਿਰੁੱਧ ਖੜ੍ਹਾ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਦੁਸ਼ਮਣ ਬਣਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਕ੍ਰੋਧ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਨਿਆਂ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਨਰਕ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਪਾਪ ਸਾਨੂੰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸਦੀਵੀ ਵਿਨਾਸ਼ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣਾਉਂਦਾ ਹੈ।

ਰੋਮੀਆਂ ੩:੨੩ ਕਿਉਂਕਿ ਸਭਨਾਂ ਨੇ ਪਾਪ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੀ ਮਹਿਮਾ ਤੋਂ ਵਾਂਝੇ ਹਨ।

ਪਰ ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਦਾ ਹੱਲ ਵੀ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਵਿਚ ਹੀ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਪਾਪ ਦੀ ਸਮੱਸਿਆ ਦਾ ਹੱਲ ਆਪਣੇ ਪੁੱਤਰ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਵਿਚ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਨਾਲ ਮੇਲ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰ ਸਕੀਏ। ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਨਾਲ ਸਦੀਵੀ ਜੀਵਨ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰ ਸਕੀਏ। ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸਵਰਗ ਵਿਚ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਕਰ ਸਕੀਏ। ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸਦੀਵੀ ਰਾਜ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣ ਸਕੀਏ।

ਪਰ ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਸੰਭਵ ਹੋਇਆ? ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਸੰਭਵ ਹੋਇਆ ਕਿ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ? ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਸੰਭਵ ਹੋਇਆ ਕਿ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਨਾਲ ਸਦੀਵੀ ਜੀਵਨ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰ ਸਕੀਏ? ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਸੰਭਵ ਹੋਇਆ ਕਿ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸਵਰਗ ਵਿਚ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਕਰ ਸਕੀਏ? ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਕਿਵੇਂ ਸੰਭਵ ਹੋਇਆ ਕਿ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਦੇ ਸਦੀਵੀ ਰਾਜ ਦੇ ਭਾਗੀ ਬਣ ਸਕੀਏ?

ਇਸ ਦਾ ਜਵਾਬ ਸਾਨੂੰ ਬਾਈਬਲ ਦੀ ਸਿੱਖਿਆ ਵਿਚ ਮਿਲਦਾ ਹੈ। ਬਾਈਬਲ ਦੀ ਸਿੱਖਿਆ ਅਨੁਸਾਰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਨੇ ਸਾਡੇ ਪਾਪਾਂ ਦੀ ਸਜ਼ਾ ਆਪਣੇ ਉੱਤੇ ਲੈ ਲਈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਨੂੰ ਪਿਆਰ ਕਰਦਾ ਹੈ।

आसक्तिमान था। इसलिए उसे समझाने के लिए संत ने भाषण बोलते-बोलते एक खंभे को पकड़ लिया और चिल्लाने लगा—कोई मुझे छुड़ाओ, खंभे ने मुझे पकड़ लिया है।

लोगों ने कहा—महाराज! खंभे ने कहां पकड़ा है? खंभे को आपने पकड़ रखा है। आप खंभे को छोड़ दें तो अपने आप छूट जाएंगे।

संत—अच्छा, यह बात है क्या?

फिर संत ने कहा—जैसे खंभे को मैंने पकड़ा था, न कि खंभे ने मुझको पकड़ा था। मैंने खंभे को छोड़ दिया, मैं मुक्त हो गया। इसी तरह तुम लोगों ने पदार्थों को पकड़ रखा है। यह पकड़ जब तक रहेगी तब तक तुम्हारी आसक्ति बनी रहेगी। इस पकड़ को छोड़ दोगे तो तुम अनासक्त बन जाओगे। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का प्रयोग कराया जाता है। उसमें यह निर्देश दिया जाता है कि शरीर की पकड़ को छोड़ें। यह पकड़ ही आसक्ति है। साधना का एक मुख्य लक्ष्य यह रहना चाहिए कि मैं अनासक्ति का अभ्यास करूं। किसी भी पदार्थ के प्रति मेरे मन में आकर्षण और प्रियता का भाव न रहे। जो अपेक्षा है उसको पूरा करना है। पदार्थ का उपयोग करना है किन्तु पदार्थों का रागपूर्ण उपयोग नहीं करना है। गीता में कहा—स्नेह मत रखो। उत्तराध्ययनकार ने कहा—**सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा** कहीं भी स्नेह मत करो। दोनों का तात्पर्य यह है कि हम कहीं भी आसक्ति न करें। गीताकार ने कहा—शुभ पदार्थ प्राप्त हो जाए, उसका अभिनंदन न करें। जैसे घर में कोई अतिथि आए तो उसका स्वागत करते हैं, अभिनंदन करते हैं क्योंकि वे प्रिय हैं, सम्मान्य हैं। उनके आने से खुशी होती है। इसी प्रकार कभी शुभ पदार्थ मिल जाए तो खुशी होती है। यह खुश होना उस पदार्थ का अभिनंदन करना होता है। इसलिए कहा गया मनोज्ञ पदार्थ मिलने पर उसका अभिनंदन मत करो और अमनोज्ञ पदार्थ मिलने पर द्वेष मत करो। यह राग-द्वेष रहित की स्थिति स्थितप्रज्ञता की होती है। उत्तराध्ययन में पांच इन्द्रियों और मन का वर्णन किया गया है। हम एक चक्षुरिन्द्रिय का उदाहरण लें। आगमकार ने कहा—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो।।३२/२२।।

चक्षु का विषय है रूप। रूप का ग्रहण चक्षु के द्वारा होता है। मनोज्ञ रूप सामने आने पर मन में राग पैदा होता है। अमनोज्ञ रूप के प्रति मन में द्वेष भाव पैदा होता है। उन दोनों में जो सम रहने वाला है वह व्यक्ति वीतराग होता है।

हम वीतरागता का अभ्यास करें। कोई भी स्थिति आ जाए हमारा मन असंतुलित न बने। जैन वाङ्मय में एक छोटा सा कथानक आता है। एक आचार्य के बहुत शिष्य थे। दो नवदीक्षित शिष्य थे। वे दोनों शिष्य बुद्धि ब्रह्मचारी थे यानी उनके बुद्धि का विकास नहीं था। एक दिन उनके मन में विकल्प उठा कि हमारा कल्याण कैसे होगा? हम न शास्त्रों को पढ़ सकते हैं, न याद कर सकते हैं और न समझ सकते हैं। हमारी आत्मा का उद्धार कैसे होगा? वे अपने गुरु के पास गए। अपनी मनोव्यथा गुरु के चरणों में निवेदित की। गुरु का काम है मौके पर शिष्यों को संभालना। दुःखी शिष्य के दुःख को दूर करने का प्रयास करना, असमाधिस्थ साधु की असमाधि को दूर करके समाधि पैदा करने का यथासंभव प्रयास करना।

गुरु ने कहा—शिष्यो! दुःखी होने की, असमाधिस्थ होने की कोई जरूरत नहीं है। कल्याण के लिए याद करना, पढ़ना कोई जरूरी नहीं है। बिना सीखे-पढ़े भी तुम्हारा कल्याण हो सकता है।

शिष्य—गुरुदेव! वह कौनसा रास्ता है?

गुरु—वत्स! दो रास्ते हैं। पहला रास्ता है सेवा करना और दूसरा रास्ता है राग-द्वेष मुक्ति की साधना करना।

हमारे संघ में बीमार साधु हैं, कुछ विकलांग साधु हैं, कुछ नए साधु भी हैं। रुग्ण, विकलांग और नवदीक्षित मुनि के लिए गोचरी लेकर आया करो। उनको आहार कराया करो। यह सेवा का काम करो। अपने गुरु की भी सेवा किया करो। गुरु के पास बैठना और उनका छोटा-मोटा काम करना भी गुरु की बड़ी सेवा होती है। दूसरा मुख्य उपाय यह है कि राग-द्वेष नहीं करना। प्रियता, अप्रियता के भावों से मुक्त रहना। अनुकूलता की स्थिति में राग नहीं करना और प्रतिकूलता की स्थिति में द्वेष नहीं करना, यह साधना करो।

शिष्य—गुरुदेव! हमें छोटा सा सूत्र बता दें। जिसका जप करने से राग-द्वेष नहीं करना, यह बात हमको याद आती रहे।

तब गुरु ने संस्कृत भाषा का सूत्र दे दिया—**मा रुष मा तुष** यानी प्रतिकूलता आ जाए तो द्वेष मत करो और अनुकूलता आ जाए तो राग मत करो। इस छोटे से सूत्र को भी वे अच्छी तरह याद नहीं कर सके। उन्होंने अपनी भाषा में मासतुस याद कर लिया। परन्तु उन्होंने इस सूत्र की अर्थात्मा को पकड़ लिया कि राग-द्वेष कहीं नहीं करना है। उन्हें एक सूत्र सेवा का और दूसरा सूत्र समता का प्राप्त हो गया। वे खूब सेवा करते। शरीर से मजूबत थे

इसलिए अच्छा श्रम करते। उन्होंने समता का भी बहुत विकास कर लिया। एक दिन वे गोचरी के लिए जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि खेत में तुस को अनाज से अलग किया जा रहा था। वे सोचने लगे जैसे मास अलग है तुष अलग है वैसे ही शरीर अलग है आत्मा अलग है। मैं आत्मा हूं। यह भावना करते-करते उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। गुरु से ऐसा सूत्र मिला कि उनकी असमाधि दूर हो गई। साधना गतिमती बनी। समता का अभ्यास करते-करते शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान पुष्ट हो गया और वे छद्मस्थता से मुक्त होकर केवलज्ञानी, केवलदर्शनी मुनि बन गए। शास्त्रों के ज्ञाता मुनि छद्मस्थ थे और ये दोनों केवलज्ञानी बन गए। क्योंकि समता का अभ्यास पुष्ट हो गया था। एक साधु के लिए तो परम आवश्यक है कि वह समता का विशेष अभ्यास करे। गृहस्थ इतनी साधना कर सके अथवा न कर सके, हालांकि साधु भी पूरी साधना न कर पाए पर लक्ष्य रहे कि मुझे समता का अभ्यास करना है। लक्ष्य होता है तो उस दिशा में गति हो सकती है। जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है तो आदमी किधर आगे बढ़ेगा इसलिए आदमी अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करे कि मुझे उस दिशा में आगे बढ़ना है। लक्ष्य तय हो जाने के बाद आदमी कदम आगे बढ़ाता है तो कभी न कभी वहां पहुंच भी सकता है।

हम अभ्यास करें कि प्रियता और अप्रियता के भावों से मुक्त रह सकें। केवल ज्ञाता द्रष्टा की भूमिका पर खड़े रहें। राग-द्वेष न करें, यही प्रेक्षाध्यान की साधना है, यही समता की साधना है, यही गीता की साधना है, यही उत्तराध्ययन की साधना है। यह समता हमारे जीवन में पुष्ट हो जाए, अवश्य कल्याण होगा।

१०

इन्द्रिय संहरण करो

हमारे पास इन्द्रियां हैं, मन है, भाषा है, शरीर है। इस शरीर के विभिन्न अवयव हैं। वे अपना काम करते हैं। हमारी इन्द्रियां अपना व्यापार करती हैं। इन सबमें केन्द्रीभूत तत्त्व है आत्मा। जब-जब हम आत्मा में रहते हैं या अपने आपमें रहते हैं, हम सुरक्षित रहते हैं और जब-जब हम अपने आपसे दूर हो जाते हैं, असुरक्षित हो जाते हैं। अपने आपको सुरिक्षत रखने के लिए भीतर में रहना होगा। इसके लिए साधना के प्रयोग करने होंगे। श्रीमद्भगवद् गीता में एक प्रयोग बताया गया है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।२/५८।।

प्रश्न हुआ, प्रज्ञा स्थित किसकी होती है, बुद्धि स्थिर किसकी होती है? राग-द्वेष के विकल्प हैं तो बुद्धि स्थिर नहीं है। यदि कुछ अंशों में हम राग-द्वेष मुक्त हो गए तो कुछ अंशों में स्थितप्रज्ञ भी बन गए। गीताकार ने प्रयोग बताया कि इन्द्रियों का संहरण करो। हमारे कान सुनते हैं, आंखें देखती हैं, नाक से गंध का ग्रहण होता है, जिह्वा से हम आस्वाद लेते हैं और त्वचा से स्पर्श होता है। साधना का प्रयोग है—अपने आपमें जाना। अपने आपमें जाने के लिए इन्द्रियों का संयम करना होगा। जो इन्द्रियां बाहर से विषयों को ग्रहण करती है। उन इन्द्रियों के व्यापार को रोकना होगा। हम बाहर जा रहे हैं इसका मतलब भीतर जाने का रास्ता कुछ बंद हो रहा है। हम बाहर जाने के रास्ते को बंद कर दें, इन्द्रियों के व्यापार को बंद कर दें, फिर भीतर जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

प्रश्न हुआ, इन्द्रियों का संहरण कैसे करें? समाधान मिला—कान से सुनो मत, आंखों से देखो मत, नासिका से गन्ध ग्रहण मत करो, जिह्वा से स्वाद मत

लो, त्वचा से स्पर्श मत करो, इन्द्रियों का संहरण हो जाएगा यानी इन्द्रियों को सक्रियता से मुक्त कर दो, निष्क्रिय बना दो। एक छोटा सा उदाहरण दिया गया। जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को संकुचित कर लेता है, वैसे ही साधक अपनी इन्द्रियों और मन को विषयों से हटा ले। कछुए का उदाहरण जैसे गीता में मिलता है, वैसे ही जैन वाङ्मय में भी मिलता है।

एक जंगल में दो कछुए थे। दोनों ने देखा कि शृगाल आ रहा है। अपनी सुरक्षा के लिए दोनों ही कछुओं ने अपने अवयवों को भीतर की ओर संकुचित कर लिया, कवच के भीतर डाल लिया। दोनों ही कछुए सुरक्षित हो गए। शृगाल उनका कुछ बिगाड़ नहीं सका क्योंकि अवयव सारे भीतर थे, ऊपर तो कठोर भाग था। कुछ समय बीत गया। दोनों में से एक कछुआ सुगुप्त था। उसने सोचा अभी सावधान रहना है, अवयवों को बाहर निकालने की जल्दी नहीं करनी है। शृगाल आस-पास कहीं हो सकता है। शृगाल भी बड़ा होशियार था। वह आस-पास ही घूम रहा था कि कब ये अवयव बाहर निकालें और कब मैं इनको दबोचूं। सुगुप्त कछुआ जागरूक रहा। उसने अवयवों को बाहर नहीं निकाला। दूसरे कछुए ने सोचा अब तो वह शृगाल चला गया होगा। उसने एक साथ अपने सारे अवयवों को बाहर निकाल दिया। शृगाल वहीं खड़ा था, तत्काल उस पर आक्रमण किया और कछुए को मार दिया। सुगुप्त कछुआ बच गया।

सुगुप्त कूर्म की तरह इन्द्रियों और मन का संयम रखने वाला साधक स्थितप्रज्ञ बनने की दिशा में आगे बढ़ता है। जो इन्द्रियों और मन का असंयम करता है वह बाहर की दुनिया में रहता है, भीतर से दूर हो जाता है। जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में प्रत्येक इन्द्रिय के बारे में विस्तार से वर्णन किया गया है। किस प्रकार साधना करने से क्या परिणाम आता है और साधना न करने से क्या परिणाम आता है? इन्द्रियों का असंयम करने से, उनके प्रति राग भाव रखने से कितना बड़ा नुकसान हो सकता है, यह बात भी बड़े अच्छे तरीके से हमें वहां प्राप्त होती है।

आदमी में इन्द्रियों का संहरण करने का, संयम करने का अभ्यास होना चाहिए। हम लोग कभी-कभी इन्द्रिय संयम का एक प्रायोगिक प्रयोग कराते हैं। वह इस प्रकार है—दोनों अंगूठों से दोनों कानों को बंद करें। दोनों तर्जनी अंगुलियों को आंखों पर स्थापित करें। दोनों मध्यमा को नासिका पर स्थापित करें और शेष चार अंगुलियां-दो तर्जनी और दो कनिष्ठा को मुख पर स्थापित

करें। यह इन्द्रिय संहरण का प्रयोग है। इससे श्रवण का संयम, चक्षु का संयम, जिह्वा का संयम, नासिका का संयम और त्वचा का भी कुछ संयम हो जाता है। यह इन्द्रिय संयम का अभ्यास तो थोड़ी देर का प्रयोग है। इसके साथ यह भी ध्यान दें कि अनावश्यक इन्द्रियों का व्यापार न करें।

जैन वाङ्मय में एक आगम है—**ओवाइयं।** यह उपांग सूत्रों में पहला है। वहां इन्द्रिय संयम का निर्देश प्रतिसंलीनता शब्द से मिलता है। इसी संदर्भ में पातंजल योगदर्शन में एक शब्द आया है प्रत्याहार। इस प्रकार पातंजल योगदर्शन का प्रत्याहार, गीता का इन्द्रिय संहरण और जैन वाङ्मय का इन्द्रिय प्रति संलीनता, ये एक ही प्रकार के प्रयोग हैं। इन्द्रियों का संयम करना अध्यात्म की दृष्टि से बड़ा हितकर है और व्यवहार में भी एक सीमा तक इन्द्रियों का संयम रखना बड़ा लाभकारी होता है।

११

मन को जीतो

आर्हत् वाङ्मय में कहा गया—

समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।

साधक इन्द्रिय संयम की साधना करता है, मन-नियंत्रण की साधना करता है, समता की प्रेक्षा करता है फिर भी इन्द्रियां बाहर चली जाती हैं, मन भी बाहर चला जाता है। जैसे स्वास्थ्य का ध्यान रखते-रखते भी कभी-कभी बीमारी हो जाती है। खाने का संयम है, रहन-सहन का संयम है फिर भी कोई ऐसा निमित्त मिलता है कि बीमारी हो जाती है। वैसे ही साधना करते-करते कदाचित् मन बाहर चला जाए तो साधक उसे वापस लाने का प्रयास करे। जहां कहीं भी मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति होती नजर आए तो साधक अपने मन को वापस खींचने का, वाणी को संयमित करने का, शरीर की चेष्टा को संयमित करने का प्रयास करे। ऐसी ही बात श्रीमद्भगवद् गीता में प्राप्त होती है। वहां कहा गया है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।२/६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।२/६१।।

स्थितप्रज्ञ के संदर्भ में अनेक तथ्य गीताकार ने बताए हैं। प्रस्तुत प्रसंग में बताया गया है कि प्रयत्न करते हुए भी हे अर्जुन! जो विद्वान आदमी है और अच्छा ज्ञानी साधक है उसकी भी इन्द्रियां मन का हरण कर लेती हैं। ये इन्द्रियां पीड़ा देने वाली हैं, हमारे गुणों का नाश करने वाली हैं, बड़ी हठी हैं। ये इन्द्रियां हमारे मन को भी बहिर्मुख बना देती हैं। मनुस्मृति में कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा मुनिःनैकासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामः विद्वांसमपि कर्षति।।

मन को इन्द्रियां हर लेती है इसलिए साधक को निमित्तों से बचना चाहिए। एक साधक को और तो क्या अपनी मां के साथ भी एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए, अपनी बहन के साथ भी एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए, अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए। क्योंकि यह इन्द्रिय समूह बड़ा बलवान है, विद्वान का मन भी हरण कर सकता है। हम जैन साधुओं का तो यह नियम है कि अपनी मां यदि साध्वी है तो भी अकेले में उसके पास नहीं बैठना, सगी बहन साध्वी है तो भी अकेले में नहीं बैठना, कोई तीसरा व्यक्ति पास में होना चाहिए। यह भी हमारा नियम है कि अकेली महिला से बात भी नहीं करना। यह निमित्तों से बचने का उपाय है। पता नहीं मन कब विकृत हो जाए। आदमी को उपादान शुद्ध करने का, भीतर से मन को शुद्ध रखने का, कषाय विजय का और जो निमित्त मन को विकृत बना सकते हैं, उनसे भी बचने का प्रयास करना चाहिए।

श्री कृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! तुम इन्द्रियों को संयमित करने का अभ्यास करो, निमित्तों से भी बचते रहो, इन्द्रियों को साधने का अभ्यास करो और इन्द्रियों को साध करके ध्यान मेरे में लगा दो यानी परमात्मा में लगा दो। ध्यान परमात्मा में लग जाएगा तो बाहर का आकर्षण कम हो जाएगा या समाप्त हो जाएगा। इसलिए मेरे में परायण हो जाओ तो विषयाकर्षण से बचाव हो जाएगा। जब बहुत बड़ी चीज के प्रति आकर्षण हो जाता है फिर छोटी चीज का आकर्षण समाप्त हो जाता है। श्रीमज्जयाचार्य द्वारा रचित चौबीसी में बताया गया है—

राजिमति छांडी जिनराय, शिव सुन्दर स्यूं प्रीत लगाय।
प्रभु नेम स्वामी! तू जगनाथ अंतरयामी।।

भगवान अरिष्टनेमि गृहस्थावस्था में थे। उनकी शादी होने वाली थी। जब उनको यह ज्ञात हुआ कि इतने पशु एकत्रित किए गए हैं और इनके मांस का भोजन बारात को परोसा जाएगा, उनके मस्तिष्क में बिजली सी कौंधी। अरे! इतने जीवों को मेरी शादी के निमित्त मारा जाएगा। ऐसी शादी मुझे नहीं करनी है। जिस कन्या राजीमती के साथ शादी होनी थी, उसको छोड़ दिया और वहां से मुड़ गए क्योंकि अरिष्टनेमि की प्रीति शिव सुन्दरी के साथ यानी मोक्ष रूपी सुन्दरी के साथ हो गई। बड़े से प्रेम होने पर छोटे का परित्याग हो सकता है। साधक ने कहा—प्रभो! मैं आपका स्मरण करूंगा। अपने मन को

आपमें लगा दूंगा फिर मेरा मन विषयों की ओर नहीं जाएगा। एक बड़ा आलम्बन है परमात्मा के प्रति ध्यान लगाना, शुद्ध आत्मा, वीतराग आत्मा का ध्यान करना ताकि बाह्य आकर्षण समाप्त हो जाए।

गीता में श्री कृष्ण ने कहा कि जो इन्द्रियों का संयम कर लेता है, मेरे में परायण हो जाता है, भगवद्भक्ति में लीन हो जाता है। वह साधक स्थितप्रज्ञ कहलाता है। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है। प्रज्ञा शब्द का प्रयोग हमें उत्तराध्ययन में भी मिलता है। वहां बताया गया कि प्रज्ञा समीक्षा करने वाली होती है। आदमी की प्रज्ञा प्रस्फुरित हो जाए। वह तत्त्व और अतत्त्व का निश्चय करने में सक्षम हो जाए। बौद्ध वाङ्मय में भी प्रज्ञा शब्द प्राप्त होता है। प्रज्ञा शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है और अनेक धर्म ग्रन्थों में अनेक सम्प्रदायों में मिलने वाला शब्द भी है। हम प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करने के लिए इन्द्रियों और मन का संयम करने का अभ्यास करें। हालांकि यह एक सच्चाई है कि साधना करते-करते भी यह मन बाहर चला जाता है। इन्द्रियां मन को खींच लेती हैं। ऐसी स्थिति में सोचना चाहिए कि जिसके प्रति मेरे मन में आकर्षण है, वह मेरा नहीं है, मैं उसका नहीं हूं। अपने-अपने कर्म भोगने पड़ेंगे। कई बार हमारा मन बहुत कमजोर हो जाता है। मैं अपने धर्मसंघ की ओर ध्यान दूं। आज तक कितने-कितने साधु-साध्वियां तेरापंथ संघ से अलग हो गए। उनमें अनेकों का कारण यह बना कि उनका मन नियंत्रण में नहीं रहा इसलिए वे संघ से अलग हो गए।

गुरुदेव तुलसी के समय पिता-पुत्र ने दीक्षा ली। पिता का मन कमजोर हो गया। उसने बेटे से कहा—हम तो वापस घर चलेंगे। बेटे का मन पक्का था। उसने पिता की बात नहीं मानी। गुरुदेव तुलसी के पास पिता की ओर से शिकायत पहुंची कि मेरा पुत्र कनक मेरी बात नहीं मानता है। गुरुदेव ने मुनि कनक को उलाहना दिया। उस समय उनकी अवस्था बहुत छोटी थी। गुरु का उलाहना सुना, फिर बाद में निवेदन किया—गुरुदेव! मैं एकान्त में आपकी सेवा करना चाहता हूं। गुरुदेव ने एकान्त में समय दिया। मुनि कनक ने कहा—गुरुदेव! आप तो मुझे कहते हैं कि पिता का कहना मानो किन्तु मेरे संसारपक्षीय पिताजी मुझे कहते हैं कि हम तो वापस घर चलेंगे। अब आप ही बताएं मैं किसका कहना मानूं? अब गुरुदेव को पता चला कि सारी बात ही उल्टी हो रही है। फिर गुरुदेव ने कहा—अब तुम मेरे पास रहा करो। आखिर पिता तो चला गया और मुनि कनक संघ में रह गया। यद्यपि कुछ समय बाद ही वे बीमार हो गए। गुरुदेव ने उनको साधना में बहुत सहयोग दिया। आखिर वे छोटी अवस्था में ही दिवंगत हो गए। पर उनका मन कितना मजबूत था।

कहने का तात्पर्य है कि साधना करते-करते भी किस प्रकार ये इन्द्रियां मन को खींच लेती है। ऐसे अनेक प्रसंग हमारे धर्मसंघ में मिल जाएंगे जिन्होंने साधुत्व को स्वीकार तो कर लिया किन्तु पूरा पाल नहीं सके और बीच में ही संघ से चले गए। जब तक साधना सिद्ध नहीं हो जाती है ऐसे अवरोध, ऐसी कठिनाइयां भी पैदा हो सकती हैं। हम भगवान महावीर के पूर्व भवों को देखें। वे जब मरीचि के भव में थे। भगवान ऋषभ के पास साधु बने परन्तु पूरा पाल नहीं सके इसलिए साधु संघ से अलग हो गए। ऐसी स्थिति अनेक आत्माओं के साथ हो सकती है कि साधु संस्था में समाविष्ट होने के बाद भी इन्द्रियां उनके मन को खींच लेती हैं और वे साधु संस्था से अलग हो जाते हैं। गीताकार ने कहा कि इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करो और ध्यान परमात्मा में लगाओ। उसे बाहर से हटाने की चेष्टा करो। चेष्टा करते-करते तुम इतने सक्षम बन जाओगे कि तुम्हारी इन्द्रियां तुम्हारे मन को खींच नहीं पाएगी।

हम स्वयं भीतर झांकें। अपने मन को टटोलें। हमारे मन में कभी-कभी विकृतियां आती हैं या नहीं? थोड़ी मात्रा की विकृति तो जैसे-तैसे पार हो जाती है किन्तु अतिमात्रा में विकृति आ जाए तो फिर साधक साधु संस्था से च्युत होने की स्थिति में आ जाता है। साधना के लिए अपेक्षा है हम मन को साधें, इन्द्रियों का संयम करें। 'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।' मन को जीत लिया तो हमारी जीत हो गई और हमारा मन हार गया तो हम हार गए। मनोबल रखना और मन का संयम करना खास बात होती है। हमारे मन को जीतना हमारे लिए दुष्कर काम तो है पर साधना करते-करते मन को जीता जा सकता है। जिसका निश्चय मजबूत हो जाए, संकल्प दृढ़ हो जाए वह व्यक्ति दुष्कर को भी सुकर बना सकता है। हालांकि मन को बहुत लम्बे काल से आसक्ति में जाने, राग में जाने, भोग में जाने की आदत पड़ी हुई है। उसको एक साथ छुड़ाना मुश्किल होता है। परन्तु अभ्यास के द्वारा, साधना के द्वारा मन की उस आदत को बदला जा सकता है और उस आदत से मन को मुक्त भी किया जा सकता है।

आदमी का मन बीच-बीच में चंचल हो जाता है, आसक्ति में चला जाता है, परन्तु दूसरा पक्ष इतना मजबूत हो कि मन को वापस ठीक कर दे। हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति भी रहे कि जब-जब मन कमजोर हो तो अप्रमाद की शक्ति, अनासक्ति की शक्ति और अकषाय की शक्ति मन को मजबूत बनाए रखे। जैन वाङ्मय में पांच भावों का उल्लेख मिलता है। उनमें दो भाव

हैं—औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव। औदयिक भाव हमारे मन को कमजोर बनाने वाला है परन्तु साथ में क्षायोपशमिक भाव वापस हमारे मन को मजबूत बना देता है। चिकित्सा जगत में मुख्य रूप से दो प्रकार के कोलेस्ट्रोल होते हैं-एल.डी.एल. और एच.डी.एल.। एल.डी.एल. ज्यादा हो जाने से स्वास्थ्य को खतरा होता है, पर साथ में एच.डी.एल. कोलेस्ट्रोल अच्छा हो तो वह हमारे हार्ट को ठीक रखने वाला होता है। एच.डी.एल. तो मित्र की तरह होता है। हमारा औदयिक भाव एल.डी.एल. की तरह है और क्षायोपशमिक भाव एच.डी.एल. की तरह है। हम अपने एच.डी.एल. यानी क्षायोपशमिक भाव को मजबूत बना लें, फिर औदयिक भाव आएगा तो भी हमारा ज्यादा नुकसान नहीं होगा। हमारी आत्मा सुरक्षित रह सकेगी। इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाला साधक कल्याण की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

१२

चक्रव्यूह को तोड़ो

सामान्य आदमी के मन में आसक्ति होती है। आसक्ति जितनी है, उसको और ज्यादा पुष्ट भी किया जा सकता है और निर्बल या क्षीण भी किया जा सकता है। आसक्ति एक प्रकार का टेम्परेचर है। जैसे बुखार बहुत तेज हो जाती है तो आदमी के जीवन को खतरा हो जाता है। वैसे ही आसक्ति का टेम्परेचर भी अधिक हो जाता है तो वह आदमी को विनाश के गर्त में डाल सकता है। आसक्ति की भी एक शृंखला होती है। उसका उद्‌गम कहां से होता है और वह आगे बढ़ते-बढ़ते विभिन्न रूपों को धारण करते-करते आदमी को कहां तक ले जाती है? श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता में आसक्ति की इस शृंखला के बारे में सुन्दर विवेचन किया गया है। वहां आसक्ति के विभिन्न रूपों का दर्शन कराते हुए कहा गया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।२/६२।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।२/६३।।

सबसे पहले आदमी ध्यान लगाता है। ध्यान परमात्मा का नहीं, परमात्मा का ध्यान लगा ले तो कल्याण हो जाए पर वह विषयों का ध्यान करता है, पदार्थों पर ध्यान लगाता है। पदार्थों के बारे में बार-बार चिंतन करने से उन पदार्थों में संग हो जाता है। संग का मतलब है आकर्षण होना, प्रियता का भाव होना। यह संग ही आसक्ति है। फिर संग थोड़ा पुष्ट होकर काम का रूप धारण कर लेता है। कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न हो जाती है। मूढ़ता से स्मृति में भ्रम हो जाता है। स्मृति-भ्रम होने से

बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से आदमी अपनी स्थिति से गिर जाता है।

जैन वाङ्मय में भी काम शब्द का प्रयोग हुआ है। दसवेआलियं में कहा गया—

कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ।।२/१।।

वह व्यक्ति श्रामण्य का पालन कैसे करेगा, जो कामों का निवारण नहीं करता। वह पग-पग पर संकल्पों से आक्रांत होकर विषादग्रस्त बन जाता है।

काम के दो प्रकार बताए गए हैं—इच्छा काम और मदन काम। पदार्थों को पाने की इच्छा होना इच्छा काम है और विषय वासना के रूप में भावना होती है वह मदन काम कहलाती है। गीता का वह संग आगे जाकर काम बन जाता है। काम का मतलब है पहले पदार्थों के प्रति आकर्षण होता है, प्रियता होती है। फिर उन पदार्थों को येन केन प्रकारेण प्राप्त करने की चेष्टा होने लगती है। हमारे मन में जो कामना है अगर वह पूरी हो जाती है तब तो खुशी होती है और यदि कामना पूर्ण नहीं होती है तो फिर गुस्सा आता है। जिस व्यक्ति को या जिस वस्तु को हम पाना चाहते हैं, उसमें कोई बाधा डाल दे तो जो रुकावट डालने वाला व्यक्ति होता है उसके प्रति गुस्सा आ जाता है और फिर जैसे तैसे उस बाधा को दूर करने का प्रयास किया जाता है। अनेक बार अखबार आदि में पढ़ने को मिलता है कि एक महिला का किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षण हो गया। किन्तु जब तक अपना पति रहता है तब तक वह अपने प्रेमी के साथ सम्पर्क नहीं कर पाती। इसलिए जैसे तैसे अपने पति की हत्या करवाने तक का प्रयास भी कर लेती है। क्योंकि उसकी इच्छापूर्ति में वह बाधक बन रहा है। गीताकार ने बड़ी व्यावहारिक बात बता दी कि काम की पूर्ति न होने से आदमी को गुस्सा आता है। जब गुस्सा आता है तो आदमी मूढ़ बन जाता है। यह मूढ़ता गुस्से से भी आ सकती है, ममता से भी आ सकती है, लोभ से भी आ सकती है यानी अनेक विकारों से सम्मूढ़ता या सम्मोह आ सकता है। मूढ़ता का परिणाम यह आता है कि स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है फिर याद नहीं रहता, मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता। जब स्मृति का भ्रंश हो जाता है तो फिर बुद्धि का भी नाश हो जाता है। बुद्धि भी ठीक काम नहीं करती। बुद्धि के लिए कहा गया—**शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनू** शुद्ध बुद्धि तो कामधेनू के समान है। जब बुद्धि विकृत बन जाती है तो वह फिर कष्टदायिनी भी बन जाती है। जब बुद्धि का नाश हो जाता है फिर आदमी का भी विनाश हो जाता है, पतन हो जाता है। हमारे जीवन में बुद्धि एक

ऐसी शक्ति है, जो हमसे काम करवा सकती है। क्या करना, क्या न करना, इन सबका निर्णय हम अपनी बुद्धि से करते हैं। जब बुद्धि काम नहीं करती है तब आदमी विवेक शून्य हो जाता है। फिर आदमी क्या अच्छा काम करेगा? फिर तो आदमी पतन के गर्त में गिर जाता है। एक शृंखला है, हम ज्यों-ज्यों विषयों का चिन्तन करते हैं त्यों-त्यों संग पैदा होता है, संग से काम और काम की पूर्ति न होने पर क्रोध पैदा हो जाता है। क्रोध आदमी को सम्मोह में ले जाता है, सम्मोह से स्मृति भ्रंश होता है। स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से आदमी का प्रणाश और विनाश हो जाता है। यह एक आसक्ति का चक्रव्यूह है।

हमें उत्तराध्ययन सूत्र में भी आसक्ति का एक चक्रव्यूह प्राप्त होता है। वहां आसक्ति का सुन्दर चित्रण करते हुए कहा गया है कि हमारे इन्द्रिय विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। जो आदमी इन विषयों में आसक्त हो जाता है फिर वह अतृप्त रहता है। वह अतृप्ति के अहि के द्वारा डस लिया जाता है। जब संतुष्टि नहीं होती है तो आदमी दुःखी बन जाता है। फिर वह अपनी कामना की पूर्ति के लिए लोभ से मलिन बन कर अदत्त को ग्रहण करता है यानी चोरी कर लेता है। फिर चोरी को ढ़कने के लिए झूठ बोलता है, कपट भी करता है। माया-मृषा का प्रयोग करने से वह दुःखी बन जाता है। वह सोचता है मैं झूठ बोल तो रहा हूं, कहीं पकड़ा जाऊंगा तो क्या होगा? झूठ कैसे बोलना, किस बात को कैसे प्रस्तुत करना, यों उसके दिमाग में कई संकल्प विकल्प आते रहते हैं। आदमी झूठ बोलने से पहले भी दुःखी, झूठ बोलते समय भी दुःखी और झूठ बोलने के बाद भी दुःखी रहता है। हमें गीता और उत्तराध्ययन में आसक्ति के दुष्परिणाम जानने को मिलते हैं। साधक यह सोचे कि आसक्ति को पूर्णतया छोड़ना तो कठिन है पर मेरा आसक्ति का भाव ज्यादा सघन न बने। मैं आसक्ति को कमजोर करने का प्रयास करूं। कभी-कभी वह आसक्ति व्यावहारिक रूप में भी कठिनाई पैदा करने वाली हो सकती है।

एक बार लॉटरी का बड़ा उपक्रम था। उसमें प्रथम पुरस्कार था पांच लाख रुपये की राशि। एक रुपये की उसकी टिकट थी। एक गरीब आदमी ने भी एक टिकट खरीदी। सौभाग्य से वह ग्रामीण व्यक्ति विजेता बन गया। अधिकारियों ने सोचा कि गरीब आदमी है एक साथ पांच लाख रुपये की बात सुनेगा तो अतिहर्ष के कारण उसका हार्ट फेल न हो जाए। हमें उसके स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना चाहिए इसलिए एक हृदय रोग विशेषज्ञ डॉक्टर को उसे रुपये सौंपने का कार्य सौंपा गया। डॉक्टर उसके गांव पहुंचा। वह एक साधारण सी झौंपड़ी में रहता था,

किन्तु बड़ा उदार था। उसकी आवभगत की। डॉक्टर साहब ने बड़े मनोवैज्ञानिक तरीके से पूछा—क्या इस बार तुमने भी लॉटरी में एक रुपया लगाया था?

ग्रामीण—हां, लगाया था।

डॉक्टर—मानलो तुम्हारे एक हजार रुपये आ जाए तो क्या करोगे?

ग्रामीण—डॉक्टर साहब! मेरी किस्मत में है कहां एक हजार? फिर भी मुझे एक हजार मिल जाए और आप जैसा कोई सज्जन व्यक्ति खुशखबरी देने आए तो मैं पांच सौ रुपये उसे दे दूंगा, पांच सौ रुपये मैं रखूंगा।

डॉक्टर—यदि एक लाख मिल जाए तो?

ग्रामीण—पचास हजार उसके और पचास हजार मेरे।

डॉक्टर—यदि दो लाख मिल जाए तो?

ग्रामीण—एक लाख उसके, एक लाख मेरे।

डॉक्टर—अगर चार लाख मिल जाए तो?

ग्रामीण—दो लाख उसके, दो लाख मेरे।

अब डॉक्टर साहब ने अन्तिम प्रश्न पूछा—यदि तुम्हें पांच लाख रुपये मिल जाए तो?

ग्रामीण—डॉक्टर साहब! मेरा तो वही सिद्धांत है। ढ़ाई लाख उसके और ढ़ाई लाख मेरे।

ढ़ाई लाख की बात सुनते ही डॉक्टर साहब का हार्ट फेल हो गया। डॉक्टर साहब वहीं कालधर्म को प्राप्त हो गए।

प्राचीन साहित्य में कहा गया है—**अतिलोभात् हृद्दौर्बल्यम्।** अति लोभ से हृदय दुर्बल बन जाता है। आसक्ति एक ऐसा चक्रव्यूह है, उसमें जो आदमी फंस जाता है। वह अपना नुकसान कर लेता है और उसकी बुद्धि भी एक सीमा के बाद विकृत बन जाती है। जो लोग बुद्धिमान हैं, वे अपनी बुद्धि की सुरक्षा भी करें और साथ में बुद्धि का सदुपयोग करने का प्रयास करें। क्योंकि बुद्धि का दुरुपयोग भी हो सकता है, बुद्धि के द्वारा दूसरों को कठिनाई में भी डाला जा सकता है और बुद्धि के द्वारा समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है। आदमी के जीवन में आसक्ति की प्रबलता के कारण समस्याएं पैदा हो जाती हैं। उनका समाधान करने का प्रयास करें। आदमी में चिन्तन शक्ति ठीक हो, चिन्तन की स्फुरणा हो और साथ में अध्यात्म का प्रभाव हो यानी अध्यात्म युक्त चिन्तन हो जाए तो आदमी इस आसक्ति के जाल से अपने आपको निकाल सकता है। वह अपना भी भला कर सकता है और दूसरों का भी भला कर सकता है।

१३

भाव शुद्ध रखो

आदमी के जीवन में भावना का बड़ा महत्त्व होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसके अनुसार कार्य की सिद्धि होती है। हम शरीर से क्या करते हैं? उसका ज्यादा मूल्य नहीं है। हमारे मन में भावना क्या है? उसका विशेष मूल्य होता है। बंधन और मोक्ष का कारण मन ही होता है। हमारा जो मन विषयों के प्रति आसक्त होता है वह बंधन की ओर ले जाने वाला होता है और जो मन वीतरागता में आसक्त है, वह मोक्ष की ओर ले जाने वाला होता है। एक आदमी जैसा कार्य करता है दूसरा आदमी वैसा ही कार्य करता है परन्तु भावना में बड़ा अन्तर हो सकता है। एक आदमी साधुओं के स्थान पर आता है। उसकी भावना है संतों से व्याख्यान सुनूं, ज्ञान की बात सुनूं, सामायिक करूं आदि। दूसरा आदमी भी साधुओं के स्थान पर आता है। उसका उद्देश्य है जब महाराज टहलेंगे, लोग वंदना करेंगे उस समय किसी की जेब में से कुछ प्राप्त कर लूं। संतों के स्थान पर एक श्रावक भी आया और एक जेबकतरा भी आया। दोनों के उद्देश्यों में और भावना में कितना अन्तर था? भावना का हमारे बंधन और मुक्ति की साधना में बड़ा महत्त्व होता है। श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।२/६६।।

जिसका मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है, वह आदमी अयुक्त होता है। जो आदमी अयुक्त होता है उसमें समता की बुद्धि का संचार नहीं होता यानी उसकी बुद्धि समीचीन काम करने वाली नहीं होती। जो अयुक्त है उसमें अच्छी भावना भी नहीं होती। उसमें अशुभ भाव आते रहते हैं। जिसमें अच्छी भावना नहीं है, उसे शांति नहीं मिलती और जो अशान्त है, उसको सुख कहां

से मिलेगा?

जैन ग्रन्थों में उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा रचित संस्कृत भाषा का एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है—शान्तसुधरास भावना। हमारे साधु-साध्वियां उसको कंठस्थ भी किया करते हैं। उसमें सोलह भावनाओं पर बड़े वैराग्यपूर्ण सोलह गीत हैं और साथ में श्लोक भी हैं। ऐसे ग्रन्थ याद हों और साथ में अर्थ की जानकारी हो तो स्वाध्याय करने में बड़ा आनन्द आता है। ये सोलह भावनाएं या अनुप्रेक्षाएं अध्यात्म की साधना के लिए, कषाय विजय की साधना के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इसका निम्न श्लोक गीता के उपरोक्त श्लोक से साम्य रखता है। वह इस प्रकार है—

स्फुरति चेतसि भावनया बिना,
न विदुषामपि शांतसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना बिना,
जगति मोहविषाद विषाऽऽकुले।।१/१।।

मोह के विषाद के विष से आकुल जगत में शुद्ध भावना के बिना विद्वान लोगों के मन में भी शांति का संचार नहीं होता और शांति के अभाव में सुख भी नहीं मिलता।

यही बात गीता में आई है कि जो अयुक्त है उसमें न तो सम्यक् बुद्धि का विकास होता है, न ही भावना का विकास होता है। भावना को शुद्ध करने के लिए हम अपने मन और इन्द्रियों को संयमित रखने का प्रयास करें। हम सीधे भावों तक न भी जा सकें। यदि मन को अच्छा रखेंगें तो हमारे भाव भी अच्छे हो जाएंगे। किसी भी क्षण हमारे मन में गलत विचार न आ जाए। मन का ध्यान रखें। जैसे छोटे बच्चे का ध्यान रखना पड़ता है कि वह कहीं बाहर सड़क पर न चला जाए, कहीं आग में हाथ न डाल दे, ज्याद मिट्टी न खा ले। इसी तरह हमें मन रूपी बच्चे को भी संभालना चाहिए। उसमें ज्यादा गुस्सा न रहे, ज्यादा लोभ न रहे, ज्यादा चंचलता न रहे, उसको अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास करें, उसकी रखवाली करते रहें तो वह सुरक्षित रह सकेगा। हम मन का ध्यान नहीं रखेंगे तो पता नहीं वह कहां से कहां चला जाएगा। अशुभ भाव आत्मा को अधोगति की ओर ले जाने वाले भी बन सकते हैं। हमारे मन में जो गुस्से का भाव आता है, अहंकार का भाव आता है, छलना या माया का भाव आता है, लोभ का भाव आता है, कभी झूठ का भाव आता है, चोरी करने का भाव आ जाता है, ये सब अशुभ भाव हैं। जैन तत्त्व विद्या में अठारह पाप

बताए गए हैं। ये अठारह पाप अशुभ भाव हैं। हम इनसे बचने की चेष्टा करें।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी भावशुद्धि पर प्रकाश डाला गया है। वहां बताया गया है—**भावे विरत्तो मणुओ विसोगो।** जो विरक्त भाव वाला है, भावों में रागद्वेष नहीं करने वाला है, वह आदमी दुःखमुक्त होता है, विशोक बन जाता है यानी शोक रहित बन जाता है। हम शोक मुक्त, दुःखमुक्त तभी बन सकेंगे जब हमारे भाव बिल्कुल शुद्ध हो जाएंगे। भावों को शुद्ध करने के लिए ही साधना के अनेक प्रयोग निर्दिष्ट किए जाते हैं। आदमी जप करता है, कोई नवकार मंत्र का, कोई राम का, कोई हनुमान का, कोई वीतराग आत्मा का, कोई अर्हम् आदि का। इन सब नामों का स्मरण करने का उद्देश्य एक ही है कि हमारा मन शुद्ध चीज में लग जाए।

मैं उपासना को बेकार नहीं मानता हूं। लोग गुरु की उपासना करते हैं या माला आदि के द्वारा भगवद् उपासना करते हैं। वह बड़ी कल्याणकारी होती है। उपासना से वासना का नाश किया जा सकता है अगर हमारा लक्ष्य शुद्ध हो। आप लोग शरीर को साफ करने के लिए स्नान करते हैं। यह नाम स्मरण भी मन को साफ करने का, आत्मा को साफ करने का उपाय है। जैसे ब्रश के द्वारा दांत साफ किए जाते हैं वैसे नाम स्मरण एक ब्रश है, जिसके द्वारा हम अपनी चेतना की सफाई करने का प्रयास करते हैं। गीता और उत्तराध्ययन में भावना की शुद्धि की बात कही गई है। हम प्रयास करें कि हमारे भाव शुद्ध रहें। हमारा मन शुद्ध रहे। हमारे मन में अशुभ विचार न आए, **शिवसंकल्पमस्तु मे मनः** मेरा मन शिव, शुभ संकल्प वाला रहे। भावना शुद्धि के द्वारा अवश्य कल्याण होगा।

१४

उजाला करो

हम दिन में प्रायः काम करते हैं और रात में विश्राम करते हैं। यह प्रकृति का एक सामान्य सा नियम है। हमारी दिनचर्या का अच्छा विभाजन हो जाता है कि दिन में काम और रात में भगवान का नाम या विश्राम। चूंकि रात में प्राकृतिक प्रकाश भी इतना सुलभ नहीं होता, जितना दिन में होता है। हम दिन में आंखों का कितना उपयोग करते हैं, पढ़ते हैं, लिखते हैं, इधर-उधर देखते हैं। रात में आंखों को भी कुछ विश्राम मिलता है। हालांकि आदमी ने खोज की और अंधकार में भी प्रकाश करने का प्रयास किया। टॉर्च, बल्ब, ट्यूब लाइट्स आदि अनेक साधन हैं जिससे आदमी अंधकार में भी कुछ प्रकाश प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भगवदगीता में निशा और जागरण के द्वारा एक तत्त्व बोध दिया गया है। वहां कहा गया—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।२/६९।।

सब प्राणियों के लिए जो रात्रि होती है, उसमें संयमी जागता है और जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं, वह मुनि के लिए, साधक के लिए रात हो जाती है। रात निष्क्रियता का प्रतीक है और दिन सक्रियता का प्रतीक है। नींद निष्क्रियता की प्रतीक है और जागरण सक्रियता और सजगता का प्रतीक है। एक छोटी-सी पहेली बन गई—'सब प्राणियों के लिए जो रात है, साधुओं के लिए वह जागरण का विषय है और सब प्राणियों के लिए जो जागरण का विषय है वह साधुओं के लिए रात है।' इस पहेली को इस प्रकार सुलझाया गया है—अध्यात्म के विषय में सामान्य प्राणियों की निष्क्रियता होती है। आम आदमी परमार्थ में ज्यादा प्रवृत्त नहीं होता है यानी उसमें सोया रहता है, मूर्च्छित रहता है। जिसमें सोया हुआ हो वह रात होती है। जो संयमी है, वह

आध्यात्मिकता में जागता है। इसलिए आध्यात्मिकता उसके लिए दिन होता है। अन्य प्राणी भौतिकता में जागते हैं। वह भौतिकता साधुओं के लिए रात होती है। असंयम सामान्य प्राणियों के लिए जागने का विषय है तो साधुओं के लिए असंयम सोने का विषय है। भोग आम प्राणियों के लिए जागने का विषय है तो साधुओं के लिए वह सोने का विषय है। संयम आम प्राणियों के लिए सोने का विषय है तो साधुओं के लिए वह जागने का विषय है। त्याग साधुओं के लिए जागने का विषय है तो आम प्राणियों के लिए वह सोने का विषय है।

सामान्य आदमी खान-पान, भोग-विलास, संग्रह, मूर्च्छा में प्रवृत होता रहता है। जब वह अतिरेक में जाता है तो चोरी करना, हत्या करना, डाका डालना आदि काम भी कर लेता है जबकि साधु इन चीजों से निवृत्त होते हैं। वे अध्यात्म की जागरणा करते हैं। रात में भी जाग जाते हैं, अपनी साधना करते हैं, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करते हैं। वे यह भी प्रयास करते हैं कि आम आदमी के लिए जो रात है हम उनको कुछ तो उजाला दिखाएं। उनको भी असंयम की ओर से कुछ तो संयम की ओर लाएं।

परम पूज्य आचार्य भिक्षु एक तत्त्ववेत्ता मनीषी आचार्य थे। वे दृष्टांतों के द्वारा तत्त्व की बात को समझाया करते थे। एक बार तीन साधुओं का एक सिंघाड़ा विहार कर रहा था। सर्दी का समय था। एक गांव में सायंकाल वह साधुओं का सिंघाड़ा पहुंचा। संतों ने स्थान की गवेषणा की। एक सेठ मिला, पूछा—महाराज! आप कब आए?

सन्त—हम तो अभी आ रहे हैं।

सेठ—आपको रहने के लिए स्थान अपेक्षित होगा?

सन्त—हम स्थान की खोज ही कर रहे हैं।

सेठ—महाराज! मेरे पास दो दुकानें हैं। एक में तो सामान रखा हुआ है, दूसरी दुकान अभी खाली है। सर्दी का समय है। आप वहां आराम से रह सकेंगे, दुकान गरम भी रहेगी। आप कृपा करके मेरी दुकान में पधारें।

सन्त दुकान में पहुंच गए। संत काफी लम्बा विहार करके वहां आए थे। थके हुए भी थे इसलिए कुछ जल्दी ही सो गए।

रात के करीब एक बजे थे। तीन साधुओं में दो साधु छोटे थे। उनको गहरी नींद आई हुई थी। एक प्रौढ़ मुनि की नींद जल्दी जाग गई। वे कुछ विशेष साधना करते थे। वे एक बजे के आस-पास जाग गए। फिर सोचा, अब जाग

गया हूं तो वापिस सोना नहीं चाहिए। अब तो मैं जप करूं, स्वाध्याय करूं, आगम की अनुप्रेक्षा करूं, समय की अधिक सार्थकता होगी। वे आगम स्वाध्याय में लगे हुए थे। इसी बीच किसी के पैरों की आवाज आई, कुछ-कुछ बतियाने की भी आवाज आई।

संत ने जोर से कहा—कौन हो?

पास वाली दुकान में कुछ लोग आए हुए थे। एक ने देखा कि पास वाली दुकान में संत महात्मा हैं। संतों से डरने की जरूरत नहीं है। संतों को तो वंदना करनी चाहिए। वे आने वाले भी तीन ही व्यक्ति थे। तीनों ने संतों को नमस्कार किया।

अग्रणी प्रौढ़ मुनि ने पूछा—अभी यहां कैसे आना हुआ?

आगन्तुकों में जो लीडर था, वह बोला—महात्मन्! आप स्वयं सोच लीजिए रात के एक बजे किसी की दुकान में कौन आ सकता है?

संत—अच्छा! तुम चोर हो?

चोर—हां महाराज! हम चोर हैं। हम आपके सामने झूठ नहीं बोलेंगे। हमें जानकारी मिली कि सेठ के पास काफी माल आया हुआ है। हम उसे चुराने के लिए आए हैं।

संत ने सोचा मुझे अपनी दुकान अभी खोल देनी चाहिए। संतों की दुकान है उपदेश देना, धर्म की बात बताना। तीनों चोर बैठ गए।

संत ने कहा—भाई चोरी जैसा गलत काम क्यों करते हो? तुम गृहस्थ हो, संसार में और भी बहुत धंधे हैं, चोरी करके किसी का धन लेना पाप है। पता नहीं ये कर्म तुमको कैसे भोगने पड़ेंगे? यहां तुम चोरियां करते हो, कभी तुम्हारे ऐसे कर्म उदय में आ सकते हैं, तुम्हारा भी नुकसान हो सकता है। संतों के बोध देने पर चोर बोले—मुनिप्रवर! आपने हमको बड़ा ज्ञान दे दिया। अंधेरे में आपने उजाला कर दिया। हमारे भीतर दीया जला दिया।

तीनों बोले—महात्मन्! आपके चरणों में प्रणाम करके प्रतिज्ञा करते हैं इस क्षण के बाद जिन्दगी में कभी चोरी नहीं करेंगे।

साधु धम्म जागरणा कर रहे थे। आगन्तुकों के लिए भी धम्म जागरणा हो गई। यों करते-करते करीब पांच बज गए। जिस सेठ की दुकान में संत ठहरे हुए थे, उसने सोचा कि साधु लोग आए हुए हैं। मैं जल्दी जाऊं, कुछ उपासना कर लूं। ज्योंही सेठ सन्तों के पास पहुंचा और देखा कि मेरे से पहले तीन आदमी आए हुए हैं। सेठ ने तीनों से परिचय पूछा। जो पहले चोर थे, उनका

मुखिया बोला—सेठ साहब! हमारा परिचय यह है कि पांच घंटे पहले के तो हम चोर हैं और वर्तमान के अच्छे आदमी हैं। चोर की बात सुनते ही एक बार तो सेठ घबरा गया। फिर वह मुखिया बोला—सेठ साहब! आज तो ये संत लोग यहां थे तब आपका माल बच गया, वरना हम तो आपको भी संत बना देते। सारा माल आज साफ हो जाता। सेठ संतों के चरणों में गिर गया और बोला—मुनिप्रवर! आप यहां विराजे इसलिए मेरा धनमाल बच गया, अन्यथा मैं तो रंक बन जाता।

संतों ने कहा—सेठ साहब! हमने तो कोई धनमाल बचाने का प्रयास नहीं किया। हमने तो चोरों की आत्मा को सुधारने का प्रयास किया। इनके भीतर जो अंधकार है उसमें कुछ उजाला करने का प्रयास किया। ये भव्य आत्माएं हैं। हमारा तत्त्वज्ञान या बोध इनके दिल को छू गया। इन्होंने आजीवन चोरी का त्याग कर दिया और प्रासंगिक रूप में तुम्हारा धन भी बच गया।

साधु उजाले का जीवन जीते हैं। गृहस्थ जो प्रायः अंधकार का जीवन जीते हैं। उस अंधकार में प्रकाश करने का काम संत महात्मा करते हैं। जैन विद्या में प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पाप बताए गए हैं। इन अठारह पापों में जीना निशा में जीना होता है। इन अठारह पापों को छोड़ देना दिन में जीना और प्रकाश में जीना होता है। संत के लिए ये अठारह पाप परित्याज्य होते हैं। इन अठारह पापों का त्याग करके संत प्रकाश में जीने का प्रयास करते हैं। गार्हस्थ्य जीवन के अंधकार में भी कुछ प्रकाश तो हो ही सकता है। जैसे रात में बिजली जलाकर प्रकाश किया जा सकता है। वैसे ही जीवन में अज्ञान और पाप आदि के अंधकार को ज्ञान और धर्म आदि के प्रकाश से दूर किया जा सकता है।

मूर्च्छा अंधकार है। मूर्च्छा को कम करने की अपेक्षा होती है। यह मूर्च्छा या मोह जितना सघन होता है, उतनी-उतनी जीवन में रात होती है। जितना-जितना जीवन में मोहभंग होता है, मोह टूटता है, उतना-उतना आदमी के जीवन में प्रकाश हो जाता है। कमरे में अंधकार है परन्तु दीपक जलाने से कुछ प्रकाश हो जाएगा। आदमी जितना त्याग करेगा, जितना ज्ञान ग्रहण करेगा, उतना अंधकार में प्रकाश हो जाएगा।

माना कि अंधकार है घना।
पर दीपक जलाना कब है मना।।

हम अंधकार को मिटाने का प्रयास करें। अंधकार में ज्ञान का उजाला, त्याग का उजाला फैलाने का प्रयास करें। ऐसा करना सबके लिए श्रेयस्कर होगा।

१५

सुखी बनो

आदमी के जीवन में कामना होती है, भावना होती है, आकांक्षा और इच्छा होती है। उसके मन में पदार्थों को भोगने की लालसा भी रहती है इसलिए वह पदार्थों को उत्पन्न करने का या उन्हें प्राप्त करने का प्रयास भी करता है। जो अप्राप्त हैं किन्तु अभीष्ट हैं, उन्हें प्राप्त करने की कामना हो जाती है और जो अभीष्ट प्राप्त हो जाते हैं, फिर उनमें मूर्च्छा हो जाती है। इस प्रकार आदमी पदार्थों को ग्रहण करता रहता है और यथावसर उनका भोग भी करता है। जीवन है तो पदार्थों को काम में लेना ही पड़ेगा। हम चलते हैं तो भी हमें एक अदृश्य शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। हम बैठे रहते हैं तो भी एक अदृश्य शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। ये दो बड़ी जो अदृश्य शक्तियां हैं, वे दिव्य शक्तियां नहीं हैं। उनका नाम है—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। चलने में, गति करने में धर्मास्तिकाय के सहयोग की अनिवार्यता है। उसके सहयोग के बिना गति हो ही नहीं सकती। स्थिर रहने में हमें अधर्मास्तिकाय के सहयोग की अपेक्षा होती है। उसके बिना हम स्थिर यानी गति-निवृत्ति और ठहराव नहीं कर सकते। एक तीसरी शक्ति है—पुद्गलास्तिकाय। हमारे जीवन में पुद्गल जगत् का भी बहुत योगदान है। हमें बोलने में पौद्गलिक शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। सोचने में भी पौद्गलिक शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। बोलने और सोचने में हम जिस पौद्गलिक शक्ति का उपयोग करते हैं वह हमारे सामने दृश्य नहीं है परन्तु दूसरे पदार्थ हमारे लिए साक्षात् हैं। हम खाते हैं, भोजन करते हैं, भोज्य पदार्थ हमारे सामने साक्षात् होते हैं। जीवन को चलाने के लिए हमें खाना भी होता है, स्पर्श भी करना होता है, देखना भी होता है, सूंघना भी होता है। कितने पदार्थ हमारे उपयोग में आते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।२/७०।।

समुद्र भरा हुआ होता है, अपनी मर्यादा में रहता है। उस समुद्र में नद और नदियों का पानी आकर मिल जाता है फिर भी कोई विशेष अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार अपार समुद्र में थोड़ा पानी आ जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता और थोड़ा पानी निकल जाने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। वह शान्त रहता है। इसी तरह पदार्थों का आदमी उपयोग करे किन्तु अमुक पदार्थ मिलने पर ज्यादा खुशी और अमुक पदार्थ नहीं मिलने पर दुःखी न बने। पदार्थों का भोग करने से जिस व्यक्ति के मानस रूपी समुद्र में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वह व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है, सुख में रहता है। जो पदार्थों की कामना रखता है, लालसा रखता है, वह उस शान्ति को नहीं पा सकता, जो शान्ति एक शान्त रहने वाला व्यक्ति, अनासक्त रहने वाला व्यक्ति प्राप्त कर सकता है।

जैन आगम उत्तराध्ययन में भी इच्छा और कामना की बात आती है। वहां कहा गया है—

सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणंतिया।।९/४८।।

एक आदमी को कैलाश पर्वत जितना सोना मिल जाए, चांदी मिल जाए तो भी एक लुब्ध मनुष्य को तृप्ति नहीं मिलती। उसकी कामना बनी रहती है क्योंकि इच्छा तो आकाश के समान अनन्त है। जैसे आकाश का पार नहीं आता, कोई ओर-छोर नहीं होता, अन्त नहीं होता, इसी तरह लोभी मनुष्य को कितना भी मिल जाए, संतोष नहीं होता। उसका लोभ बढ़ता रहता है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है। **लाभात् लोभः प्रवर्द्धते** लाभ से लोभ बढ़ता है।

जो मूढ़ होते हैं, वे असंतोष में परायण होते हैं। जो पंडित और ज्ञानी होते हैं, वे संतोष को प्राप्त करते हैं। असंतोष का कहीं अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख होता है।

हमारे पास कई लोग आते हैं। कुछ कहते हैं—महाराज! फैक्ट्री ठीक नहीं चल रही है। आप कोई ऐसा आशीर्वाद दें जिससे फैक्ट्री ठीक चलने लग जाए। यानी उसके मन में पैसे की कामना है क्योंकि मैं जानता हूं एक गृहस्थ के लिए

पैसा जरूरी है। वह बिना पैसे कैसे जीवन जी पाएगा? गृहस्थ के लिए पैसा प्राप्त करना बुरी बात भी नहीं है। कोई व्यक्ति कहता है—महाराज! शादी हुए इतने वर्ष हो गए। एक बेटा नहीं हुआ। आप आशीर्वाद दे दो, हमारे एक बेटा हो जाए। तीन एषणाएं होती हैं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा। धन की इच्छा, संतान की इच्छा और नाम, ख्याति आदि की इच्छा। ये कुछ इच्छाएं तो सामान्य हैं। सामान्यतया आदमी को संतान भी चाहिए। आदमी को गृहस्थ जीवन चलाने के लिए पैसा भी चाहिए। समाज में नाम, ख्याति भी चाहिए। पर कामना जब और आगे बढ़ जाती है तो फिर आदमी पैसा पाने के लिए दूसरों को कष्ट में भी डाल सकता है। कामना की यह स्थिति निकृष्ट कोटि में चली जाती है। मैं यह कल्पना तो नहीं करता कि सारा संसार कामना मुक्त हो जाएगा। और तो क्या एक साधु की भी साधना जब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाती है, मन के किसी कोने में कामना रह जाती है। उस कामना को भी समाप्त करना साधु का कर्त्तव्य होता है और साधु को वैसी साधना भी करनी चाहिए।

हमारे जीवन में अतिकामना होती है तो वह हमको डुबोने वाली या जन्म-मरण की परम्परा में भ्रमण कराने वाली होती है। आदमी कामना को समझे। यदि कामना को पूर्णतया न भी त्याग सकें तो कामना को कम करने का प्रयास करें। कामना का अतिक्रमण करने से दुःख भी अतिक्रांत हो जाएगा और आदमी पूर्णतया सुखी बन जाएगा।

१६

शांति पाओ

जैन वाङ्मय में प्राणियों के लिए कहा गया है—**सव्वे पाणा परमाहम्मिया**—सब प्राणी परम धार्मिक होते हैं। परम धार्मिक का अर्थ किया गया है—सुख को चाहने वाला। ऐसा कौन प्राणी होगा जो सुख को नहीं चाहता है। संत महात्मा में भी सुख पाने की कामना होती है और सामान्य गृहस्थ के मन में भी सुखेच्छा होती है। हो सकता है सुख के आशय में अन्तर हो। एक महात्मा उस सुख को पाने की भावना रखता है जो मिलने के बाद अविनाशी हो और बीच में कोई बाधा न आए। गृहस्थ तात्कालिक सुखों को पाने की भावना रखता है, इन्द्रिय सुखों को पाने की भी इच्छा करता है। वह चाहता है अच्छे कपड़े मिल जाए, अच्छा मकान मिल जाए, अच्छी पत्नी मिल जाए, अच्छी संतान मिल जाए, समाज में पद प्रतिष्ठा मिल जाए आदि। गृहस्थ हो या संन्यासी, सुख पाने की भावना सब प्राणियों में होती है। सुख तब संभव है जब किसी न किसी रूप में मन में शान्ति होगी। तात्कालिक शान्ति सुविधा से मिल सकती है, जैसे भयंकर गर्मी के समय वातानुकूलित कमरा मिल गया, सुविधा मिल गई, एक बार शान्ति मिल जाएगी। सुविधा ने शांति को पैदा कर दिया। यह शांति शरीर के स्तर पर मिलने वाली है।

कोई व्यक्ति ए.सी. में बैठा है और उस समय एक फोन आता है कि आपके अमुक प्रिय व्यक्ति का देहान्त हो गया। यह बात सुनते ही मन की शांति खत्म हो जाती है। आदमी अशांति में चला जाता है यानी शरीर के स्तर पर तो शांति प्राप्त थी पर एक समाचार ने मानसिक शांति को भंग कर दिया और आदमी दुःखी हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शांतिमधिगच्छति।।२/७१।।

शांति को पाने के लिए पहली बात बताई गई—निस्पृहता। शांति के भंग होने का एक कारण है स्पृहा, लालसा। आदमी की हर लालसा पूरी हो जाए, जरूरी नहीं है। परंतु जो लालसा मन में हो गई और उसको पूरा होने का अवसर नहीं मिला तो मन में एक दुःख की रेखा खिंच जाती है। यह अलग बात है कि आदमी अपने दुःख को दिखाए अथवा न दिखाए। ऐसे भी लोग मिल जाते हैं जो परस्पर मिलने पर मुस्कुराते हैं, गले मिलते हैं, हंसते हैं, पर उनके मन में शत्रुता का भाव रहता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

आपसी रिश्ते हमारे इस तरह चलते रहे।
वो हमको छलते रहे, हम उनको छलते रहे।।
गालियां देते रहे जिनको अकेले में सदा।
बड़ी गर्मजोशी से बाजार में मिलते रहे।।

जो आदमी कामनाओं को छोड़ देता है, उसे शांति प्राप्त करने का एक उपाय प्राप्त हो जाता है। कामना यानी अप्राप्त को प्राप्त करने की भावना। जो प्राप्त है उसकी कामना नहीं होती। कामना उसकी होती है जो अप्राप्त है। जो प्राप्त है उसमें मूर्च्छा हो सकती है, आसक्ति हो सकती है। हालांकि जनसाधारण में कामना रहती है किन्तु हमें यह ध्यान देना चाहिए कि हमारी कामना अतिमात्रा में न हो जाए। तीन शब्द आते हैं—महेच्छ, अल्पेच्छ, अनिच्छ। महेच्छ शब्द का एक अर्थ किया गया है उदार। मैं जिस अर्थ में महेच्छ शब्द को काम में ले रहा हूं उसका अर्थ है—महाइच्छा। जिसमें ज्यादा इच्छा या लालसा होती है वह व्यक्ति महेच्छ होता है। आदमी को ज्यादा इच्छा वाला नहीं बनना चाहिए। यहां महेच्छ शब्द निकृष्ट संदर्भ में प्रयुक्त किया जा रहा है। सामान्य आदमी के लिए अनिच्छ बनना भी नामुमकिन जैसी बात है। इसलिए बीच का रास्ता बताया गया कि अल्पेच्छ बनो। इच्छा का अल्पीकरण कर दो, असीम इच्छा मत रखो। अल्पेच्छ होने से अशांति पैदा होने का एक बड़ा कारण काफी अंशों में समाप्त हो जाएगा।

दूसरी बात बताई गई—निर्मम यानी ममकार को छोड़ दो। जो कुछ पास में है उसके प्रति ममता या मेरापन का भाव मत रखो। हमारे साधुओं में सुन्दर व्यवस्था है। यहां बताया जाता है कि मेरा किसी को मत मानो। साधु पास में है तो हमारे संघ का साधु है। उसको भी स्थायी रूप में अपना मत मानो। पता नहीं आचार्यश्री कब किसके साथ भेज दे? यह हमारी व्यवस्था है कि साधु-साध्वियों का नियोजन आचार्य के द्वारा होता है। एक अग्रणी के पास जो साधु है अपेक्षा होने पर उसे और कहीं भी भेजा जा सकता है। इसलिए कहा

गया—अपना किसी को मत मानो। न तो कोई उपकरण तुम्हारा अपना है, न कपड़ा तुम्हारा अपना है, न पात्र अपना है, अपना कुछ नहीं है। और तो क्या दसवेआलियं में तो यहां तक कहा गया—**अविअप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।** अपनी देह में भी अपनापन मत रखो। ममता अशांति का कारण है। किसी प्रिय व्यक्ति का वियोग होता है तो दुःख ज्यादा होता है। इसका मतलब या तो उसके प्रति इतना मोह का भाव है, ममता का भाव है या अपने भविष्य की असुरक्षा का एक अंदाजा है। हालांकि हमारी दुनिया में व्यक्ति के प्रति शुद्ध मोह भी कम होता है। अधिकतर स्वार्थों से जुड़ा हुआ मोह होता है। अमुक आदमी से मेरा काम चलता है या मुझे उसका सहारा है तब तक वह मोह है, अगर वह व्यक्ति सहयोग करना बन्द कर दे तो मोह भी छूटते ज्यादा देर नहीं लगती है। बस स्वार्थ की ईंट खिसकती है, मोह भी दूर हो जाता है। फिर भी ममकार जहां है वहां दुःख का हेतु तैयार हो जाता है। इसलिए जैन वाङ्मय में अन्यत्व अनुप्रेक्षा बताई गई। अन्यत्व अनुप्रेक्षा यानी **अहमन्य पुद्गलाश्चान्यः** मैं अलग हूं पुद्गल अलग है।

उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस भावना में बहुत सुन्दर कहा है—

विनय! निभालय निजभवनं तनुधनसुतसदनस्वजनादिषु।
किं निजमिह कुगतेरवनम्।।

शरीर है, मकान है, बेटा है, धन है, इनको अपना मत मानो। ये कभी भी छूट सकते हैं। ममता भाव को छोड़ देना शांति को पाने का एक उपाय है।

तीसरी बात बताई गई—निरहंकार यानी अहंकार को छोड़ो। अहंकार शांति में बाधक बनता है। जब आदमी यह सोचता है कि मैं इतना बड़ा आदमी हूं मेरा सम्मान होना चाहिए और किसी ने सम्मान नहीं किया, मन में दुःख होना संभव है। दूसरों से सम्मान पाने की भावना, अधिकार रखने की भावना है वह अहंकार है। हम आंख मूंदकर देख लें, अगर हमारे मन में दूसरों से सम्मान पाने की भावना है और अधिकार जमाने की भावना है तो मानना चाहिए अहंकार भीतर में है। अगर दूसरों को, पूज्यों को सम्मान देने की भावना है तो मानना चाहिए हमारा अहंकार कुछ कमजोर हुआ है।

इस प्रकार गीता और उत्तराध्ययन में सुख और शांति को पाने के उपाय प्राप्त होते हैं। उन पर अगर हम मनन करें और उन्हें काम में लें तो हम शांति को प्राप्त कर सकते हैं।

१७

इन्द्रिय संयम करो

साधना के मार्ग में इन्द्रिय विजय की साधना बहुत महत्त्वपूर्ण है। न केवल आध्यात्मिक साधना के संदर्भ में अपितु व्यावहारिक जगत में भी एक सीमा तक इन्द्रियों और मन का संयम रखना बहुत उपयोगी होता है। इन्द्रियों का अति असंयम है तो सामाजिक जीवन में और व्यावहारिक जीवन में आदमी पिछड़ जाता है। प्राचीन साहित्य में शासक या राजा के लिए भी कहा गया कि उसे इन्द्रिय-संयमी होना चाहिए। राजा अगर भोग विलास, ऐशोआराम में रचा-पचा रहता है और राज्य की चिन्ता नहीं करता है तो उसका राजत्व भी सफल नहीं होता। इसीलिए कहा गया कि जो व्यक्ति राज्य का अधिकार प्राप्त करे और फिर प्रजा की सेवा न करे तो उसका जन्म बेकार है। राजा का मुख्य काम है प्रजा की सेवा करना। जो सम्पन्न लोग हैं उनकी रक्षा करना और दुर्जन लोगों पर अनुशासन रखना राजा का काम है। सज्जन, दुर्जन जो भी अपनी प्रजा के अंग हैं, उनका भरण-पोषण करना राजा का कर्त्तव्य होता है।

वर्तमान में भारत में राजतंत्र नहीं है, प्रजातंत्र है, लोकतंत्र है। वहां भी जो सरकार में आते हैं, उनके भी वे ही कर्त्तव्य हैं—सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों पर कारवाई और सबका भरण-पोषण। वर्तमान में विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका के योग से शासन व्यवस्था चल रही है। कोई भी व्यवस्था हो, पद्धति का अन्तर है किन्तु लक्ष्य एक है—प्रजा की सेवा, प्रजा का विकास।

इन्द्रिय संयम एक ऐसा तत्त्व है जिससे अध्यात्म की साधना का भी लक्ष्य पूरा होता है और व्यवहार की दुनिया में भी एक सीमा तक वह बड़ा उपयोगी होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म की साधना के संदर्भ में इन्द्रिय संयम पर गहन प्रकाश डाला गया है और इन्द्रिय संयम की दो स्थितियां गीताकार ने उजागर की है। वहां बताया गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्चते।।३/६।।

जो मूढ़ आदमी इन्द्रियों का ऊपर से तो संयम करता है किन्तु मन से उन इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है।

एक आदमी के मन में कोई संयम की चेतना नहीं है। वह मात्र दिखावे के लिए या कुछ पाने के लिए इन्द्रियों का संयम करता है। इन्द्रियों के दो वर्गीकरण हैं—ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं। हाथ, पांव, वाक्, उपस्थ और गुदा—ये पांच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। यहां पर जो कर्मेन्द्रिय शब्द का प्रयोग किया गया है वह दसों इन्द्रियों के लिए है क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों से भी कर्म होता है। हम हाथ से काम कैसे करेंगे, जब तक आंख से देख नहीं पाएंगे। कार्य करने में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का योग होता है।

गीताकार ने कहा कि एक आदमी ने कर्मेन्द्रिय का संयम कर लिया, आंख से देखना बंद कर दिया, कान से सुनना बंद कर दिया और भी विषय-भोग छोड़ दिए परन्तु उसका लक्ष्य साधना का नहीं है, परवशता के कारण कुछ संयम करना पड़ा। परवशता से संयम करना एक बात है। स्ववशता में संयम करना अलग बात है। दसवेआलियं के दूसरे अध्ययन में कहा गया—

वत्थ गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ।।२/२।।

एक तथाकथित साधक है। वह विवशता से या अभाव के कारण वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियां, शयन आदि का भोग नहीं करता। शरीर इतना लाचार हो गया कि भोग कर नहीं सकता और वह कहे कि मैं बड़ा त्यागी हूं तो शास्त्रकार ने कहा कि परवशता में जो भोग नहीं कर सकता वह त्यागी नहीं कहलाता। त्यागी वह होता है जो प्रिय और कांत भोगों के प्राप्त होने पर भी, भोग क्षमता होने पर भी, स्ववशता में उनसे पीठ फेर लेता है, उन्हें त्याग देता है। हमारे बाल मुनि अच्छे खाते-पीते घरों से आए हैं। इन्हें वहां बढ़िया-बढ़िया चीजें मिल सकती थी परन्तु मन में संयम की चेतना ऐसी जागी कि इन्होंने छोटी अवस्था में संन्यास को स्वीकार कर लिया। त्याग व संयम की चेतना का जागना बड़ी महत्त्वपूर्ण बात होती है।

गीता की भाषा में वह आदमी मिथ्याचारी है जो दिखावे के रूप में ऊपरी

संयम तो करता है किन्तु मन से संयम नहीं करता। फिर प्रश्न हुआ, सम्यक् आचार वाला कौन होता है? गीता में श्रीकृष्ण ने कहा—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।३/७।।

जो मन से इन्द्रियों का संयम करता है और कर्मयोग की साधना करता है यानी कर्म करते हुए, प्रवृत्ति करते हुए, कार्य करते हुए भी आसक्ति से मुक्त रहता है वह सम्यक् आचार का पालन करता है। गीता में कहा गया—अनासक्त भाव से कर्म करोगे तो कर्म भी हो जाएगा और तुम पाप कर्म के बन्धन से भी प्रायः बच जाओगे। इन्द्रियों का संयम बाहर से भी करें और अन्तर्मन से भी करें। मैं इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि अभ्यास के लिए कोई इन्द्रियों का ऊपरी संयम करे वह भी अच्छा है क्योंकि मन को साधना कोई आसान काम नहीं है। मन में बीच-बीच में भोगासक्ति, भोगभावना आ जाती है। साधक यह सोचे कि वह मेरी कमजोरी है उसको भी दूर करना है। इन्द्रियों का संयम करते-करते मन में कभी-कभी राग का या भोग का भाव आ जाए तो वह कोई मिथ्याचार वाली बात नहीं है। यह तो साधना की अपरिपक्वता है। साधना पकते-पकते कभी यह स्थिति आएगी कि मन में भी भोग भावना नहीं आएगी। मैं यह मानता हूं कि मन में कोई साधना का लक्ष्य नहीं है मात्र परवशता से इन्द्रियों का संयम करता है या दिखावे के लिए इन्द्रियों का संयम करता है और मन में भोग भोगता रहता है तो वह मिथ्याचार की स्थिति में आ जाता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।९/५३।।

ये काम भोग शल्य हैं, विष हैं, आशीविष के समान हैं। जिसने ऊपर से इन्द्रियों का संयम कर लिया किन्तु भीतर में भोगाभिलाषा रखता है, भोगों की प्रार्थना करता है, ऐसा व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। गीता ने कह दिया मिथ्याचार और उत्तराध्ययन ने कह दिया दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। दोनों एक ही बात है। हालांकि इन्द्रियों का संयम कठिन है पर कठिन काम भी करणीय होता है। जीवन में सारे काम आसान नहीं होते हैं, कठिन काम करने का भी हमें अभ्यास करना है। कठिन काम करने से आदमी उच्चता को प्राप्त हो जाता है।

एक लड़का महात्मा के पास गया।

उसकी मां ने कहा—महात्माजी! आप इसको समझाइये। यह गुस्सा बहुत ज्यादा करता है।

लड़का पढ़ा लिखा अच्छा समझदार था।

संत—बोलो, कठिन काम करना चाहोगे या आसान काम करना चाहोगे।

लड़का—महाराज! मैं कठिन काम करना चाहता हूं।

संत—गुस्सा करना कठिन काम है या गुस्से पर कंट्रोल करना कठिन काम है।

लड़का—संतप्रवर! गुस्सा करना तो आसान काम है। कोई भी कर सकता है। गुस्से पर कंट्रोल करना कठिन काम है।

सन्त—अब तुम कठिन काम शुरू करो। गुस्से पर कंट्रोल करने का अभ्यास करो।

लड़का—ठीक है, मैंने आपको जबान दे दी। अब मैं कठिन काम शुरू करूंगा और अपने गुस्से पर कंट्रोल करूंगा।

लड़के ने अभ्यास किया और गुस्सा नियंत्रित भी हो गया।

हम कठिन काम करने का अभ्यास करें। इन्द्रियों का संयम भी कठिन काम है। जीभ की मांग है, बढ़िया-बढ़िया खाने को चाहिए किन्तु उस पर कंट्रोल कर लेना, जीभ की मांग को अस्वीकार कर देना इन्द्रिय संयम की साधना है। इस प्रकार हम एक-एक इन्द्रिय की जो मांग है उस मांग को अस्वीकार करने का अभ्यास करें और मन को समझाएं कि तुम इतनी मांग मत करो। वास्तव में मांग इन्द्रियों की नहीं, मांग हमारे मन की है। इन्द्रियां तो माध्यम है। मन की सारी मांगो को मानना आवश्यक नहीं है। अच्छी बात है तो मांग मान भी लें। गलत बात है तो मांगों को जितना संभव हो सके, अस्वीकार का भी अभ्यास करें। जिस आदमी ने मन की मांगों को नकारने का अभ्यास कर लिया, मन की गलत मांगों को अस्वीकार करने का अभ्यास कर लिया, वह इन्द्रिय संयम की साधना में अग्रसर हो सकता है।

१८

कर्त्तव्य कर्म करो

हमारे जीवन में प्रवृत्ति होती रहती है। ऐसा कौनसा आदमी होगा जो प्रवृत्ति मुक्त रहता है। साधना करते-करते एक समय आता है जिसे जैन तत्त्वविद्या की भाषा में अयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है। वहां कोई प्रवृत्ति नहीं होती है परन्तु वह समय अति स्वल्प होता है। प्रायः आदमी प्रवृत्तिमान रहता है। प्रवृत्ति किस तरह की हो? यह भूमिका भेद से कुछ भिन्न भी हो जाती है। गृहस्थ जीवन की प्रवृत्तियां कुछ अलग तरह की होती है। साधु जीवन की प्रवृत्तियां कुछ अलग तरह की होती है। कुछ प्रवृत्तियों में कुछ समानता भी रहती है। आप लोग गृहस्थ हैं, हम लोग साधु हैं। आप भी भोजन करते हैं, हम भी भोजन करते हैं। आप भी पानी पीते हैं, हम भी पानी पीते हैं। आप भी सोते हैं, हम भी सोते हैं। आप भी चलते हैं, हम भी चलते हैं। यह समानता है। इस समानता के बावजूद इसमें असमानता भी है। जो प्रवृत्तियां समान हैं इनमें भी कुछ असमानता है। एक साधु का खाना संयमपूर्ण होता है जबकि गृहस्थ के भोजन में असंयम भी संभव है। साधु का शरीर त्यागयुक्त है जबकि गृहस्थ का शरीर असंयम से युक्त होता है। कुछ प्रवृत्तियां गृहस्थ करते हैं, वे साधु करते ही नहीं हैं। विवाह, व्यापार आदि काम गृहस्थ जीवन में होते हैं, साधु जीवन में ऐसा कुछ नहीं होता। यह प्रवृत्ति की असमानता भी है। प्रवृत्ति अपनी भूमिका के आधार पर करणीय और अकरणीय हो जाती है। एक भूमिका में एक कार्य करणीय होता है तो दूसरी भूमिका में वह कार्य अकरणीय भी हो जाता है। हम भूमिका भेद पर ध्यान दें तो करणीय और अकरणीय में काफी स्पष्टता प्राप्त हो सकती है।

सबके कर्त्तव्य अलग-अलग होते हैं। राजा का अपना कर्त्तव्य है, प्रजा का अपना कर्त्तव्य है। गुरु का अपना कर्त्तव्य है, शिष्य का अपना कर्त्तव्य है।

मालिक का अपना कर्त्तव्य है, मजदूर का अपना कर्त्तव्य है। जिसका जो कर्त्तव्य है, उसके प्रति जागरूक रहो। बस यह एक सिद्धांत सबके लिए लागू हो सकता है। राजा अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे, प्रजा अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे। कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे, अधिकारी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे। गुरु अपने कर्त्तव्य को निभाए तो शिष्य अपना कर्त्तव्य निभाए। आचार्य उमास्वाति जैन परम्परा के महान् आचार्य हुए हैं। जिनका एक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है—तत्त्वार्थ सूत्र। उसमें एक छोटा सा सूक्त प्राप्त होता है—**परस्परोऽपग्रहो जीवानाम्** प्राणियों को परस्पर एक दूसरे का आलम्बन मिलता है। गुरु से शिष्य को सहारा मिलता है और शिष्य से गुरु को सहारा मिलता है। मालिक को मजदूर से सहारा मिलता है, मजदूर को मालिक से सहारा मिलता है। पति को पत्नी से सहारा मिलता है, पत्नी को पति से सहारा मिलता है। पिता को पुत्र से सहारा मिलता है और पुत्र को पिता से सहारा मिल जाता है। सब स्वकर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहें। गुरुदेव तुलसी ने एक दिन में संस्कृत भाषा में छत्तीस श्लोकों की रचना कर एक छोटा सा ग्रन्थ बनाया, जिसका नाम है—कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका। उसका पहला श्लोक है—

स्वकर्त्तव्यमकर्त्तव्यं, विदन्ति नहि ये जनाः।
यदा कदाप्यनिष्टं स्यादिह तेषामतर्कितम्।।

जो लोग अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं जानते हैं उनका कभी भी अचिन्तित अनिष्ट हो सकता है। इसलिए अपने कर्त्तव्य के प्रति आदमी को जागरूक रहना चाहिए।

अर्जुन कर्म करने से उदास हो गया था। वह युद्ध करने से कतरा रहा था। तब श्रीकृष्ण ने उसको अपने कर्त्तव्य और कर्मयोग का उपदेश देते हुए कहा—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।३/८।।

अर्जुन! तू शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

जिसके लिए जो कर्म निर्धारित है, निश्चित है, वह कर्म आदमी को करना चाहिए। उस कर्म को छोड़ना ठीक नहीं है। एक अध्यापक का नियत कर्म है विद्यार्थी को पढ़ाना। वह अध्यापक के स्थान पर रहे और अध्ययन न कराए तो एक तरह का अनौचित्य हो जाता है। एक राजा जो शास्ता के पद पर आसीन है। वह अगर दुर्जनों का प्रतिकार नहीं करता है तो शास्ता के नियत

कर्म से च्युत हो जाता है। संस्कृत व्याकरण के सिद्धांत के अंतर्गत एक बात बताई गई है **किं राजा यो न रक्षति** यानी वह राजा कुत्सित है, निन्दनीय है जो प्रजा की रक्षा नहीं करता है। राजा के लिए नियत कर्म है प्रजा की रक्षा करना। जो राजा रक्षा नहीं करता है वह एक तरह का पाप करता है, औचित्य का लंघन करता है। एक मां का फर्ज है अपनी संतान की सेवा करना। और तो क्या, एक महिला के मन में साध्वी बनने की भावना आ गई। पर साध्वी बनने से पहले उसे यह ध्यान देना चाहिए कि अगर मेरी संतानें छोटी हैं तो उनकी क्या व्यवस्था होगी? बच्चों की व्यवस्था किए बिना कोई संन्यास ले ले तो वह महिला या पुरुष अपने कर्त्तव्य धर्म से च्युत हो जाता है। संतान स्वावलम्बी बन जाए फिर आज्ञा मिले तो साध्वी बनना बहुत अच्छी बात है।

गीता में कहा गया—अर्जुन! तुम निर्धारित कर्त्तव्य का पालन करो। अकर्म की अपेक्षा कर्म करना ज्यादा अच्छा होता है। अकर्म के द्वारा तो शरीर की यात्रा होना भी संभव नहीं है। शरीर को चलाने के लिए तुमको भोजन करना पड़ेगा, चलना पड़ेगा, काम करना पड़ेगा इसलिए कर्म तो करना ही पड़ता है। उसमें तुम और विशेष ध्यान दो। जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उसके प्रति जागरूक रहो। यह कर्त्तव्य पालन का निर्देश बड़ा व्यापक है। किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं, मात्र गृहस्थ के लिए ही नहीं, साधु के लिए ही नहीं, सबके लिए है।

हम उत्तराध्ययन को देखें। वहां भी एक सुन्दर निर्देश मिलता है। उत्तराध्ययन के चौबीसवें अध्ययन में एक समिति शब्द आया है। समिति यानी सम्यक् प्रवृत्ति। वहां कहा गया है कि तुम्हें अपेक्षा है तो तुम सम्यक् प्रवृत्ति करो, सम्यक् कर्म करो। चलना, बोलना, खाना, उत्सर्ग आदि सारा कार्य सम्यक् रूप में करो। इस प्रकार गीता और उत्तराध्ययन के संदर्भ में हम विचार करें और सम्यक् कर्म करने का अपना मानस बनाएं, यही हमारे लिए श्रेयस्कर हो सकेगा।

१९

संगमुक्त कर्म करो

आदमी जीवन जीता है। वह जीने के लिए प्रवृत्ति करता है। शरीरधारी व्यक्ति प्रवृत्ति-मुक्त नहीं हो सकता। यदि प्रवृत्ति के साथ अनासक्ति को जोड़ दें तो वह प्रवृत्ति पापकर्म के बन्धन से बहुलतया या सम्पूर्णतया आदमी को बचा सकती है। पापकर्म के बंधन का मुख्य संबंध आसक्ति के साथ होता है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक पर मनन करना चाहिए। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।३/९।।

जो कर्त्तव्य या करणीय कार्य हैं उनके सिवाय यानी कर्त्तव्यभाव के सिवाय आसक्ति के साथ जो कर्म किया जाता है वह कर्म बन्धन करने वाला होता है। प्रवृत्ति और उसमें होने वाला आसक्ति का भाव मनुष्य को बंधन की ओर ले जाता है। आदमी प्रवृत्ति पर ध्यान दे कि मैं अनावश्यक प्रवृत्ति करता हूं या आवश्यक कार्य करता हूं? आवश्यक कार्य करूं उसमें भी मेरे मन में आसक्ति का भाव है या नहीं? व्यक्ति इस आसक्ति से बचने का प्रयास करे तो वह कर्म करते हुए भी काफी बन्धन मुक्त रह सकता है और कर्म का बंधन होगा भी तो हल्का होगा, विशेष कष्ट पैदा करने वाला नहीं होगा। सम्यक् दृष्टि व्यक्ति की यह खास बात होती है कि वह क्रिया करता हुआ भी, संसार में रहता हुआ भी कमल की भांति निर्लेप रह सकता है।

कुछ आदमी बहुत उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। वे उत्तम कार्य करने वाले और आसक्ति मुक्त जीवन जीने वाले होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में एक कथानक का संकेत मिलता है। सेठ के तीन लड़के थे। एक दिन सेठ ने कहा—मैंने वर्षों तक व्यापार किया। अब मैं व्यापार से निवृत्त होना चाहता हूं।

तुम तीनों भाई व्यापार करो। अपने-अपने ढंग से काम करो। तुम कार्य करने में स्वतंत्र हो। मैं तुमको एक-एक हजार रुपये देता हूं। तुम दूर देश जाओ, व्यापार करो और बारह वर्ष बाद वापस तीनों भाई यहां आ जाना। तीनों भाई एक-एक हजार रुपये की राशि लेकर रवाना हो गए। बड़ा भाई अपने आपको व्यापार करने में असमर्थ महसूस कर रहा था। उसने सोचा, मैं जुआ खेलना जानता हूं। संभव है उससे कुछ मिल जाएगा। उसने जुआ खेला। हजार रुपये की राशि जो पास में थी, वह भी चली गई। वह निर्धन हो गया। अब उसके सामने एक ही विकल्प था। वह जंगल में जाता, लकड़ियां काटकर लाता और उन्हें बेचता। जो पैसा मिलता उससे अपना काम चलाता। बीच वाले भाई के मन में विचार आया कि मैं हजार रुपये बैंक में जमा करा दूं, कुछ ब्याज आएगा, उसी से काम चला लूंगा। आराम से रहूंगा। उसने वैसा ही किया। तीसरा भाई बड़ा चतुर था। उसने व्यापार करना शुरू किया। वह रत्नों का व्यापारी बन गया। बारह वर्षों में तो इतना पैसा कमा लिया कि मानो पूरा घर भर जाए। बारह वर्षों की संपन्नता के बाद तीनों भाई घर पहुंचे।

पिता ने तीनों से पूछा—बोलो! तुमने क्या कमाई की?

बड़ा बेटा बोला—पिताजी! कमाई कुछ नहीं की। जो आपने राशि दी थी वह भी मैंने जुए में गंवा दी।

दूसरे पुत्र से पूछा—तुमने क्या किया?

उसने कहा—पिताजी! मैंने न तो कमाया और न बड़े भाई की तरह गंवाया। आपने हजार रुपये दिए थे। ये वापस हजार रुपये आप संभाल लीजिये। मैंने ब्याज से काम चला लिया।

तीसरे पुत्र से पूछा—बोलो बेटा! तुमने क्या किया?

उसने कहा—पिताजी! आपने हजार रुपये दिए थे और कई करोड़ हजारों का हिसाब आप देख लीजिये।

तीनों भाइयों में एक मूल पूंजी को गंवाने वाला, दूसरा मूल पूंजी की सुरक्षा करने वाला और तीसरा उसको बहुत ज्यादा बढ़ाने वाला था। सांसारिक दृष्टि से विचार करें तो पिता सबसे ज्यादा अच्छा पुत्र किस को मानेगा? जिसने कमाई की थी, वह उसकी दृष्टि से योग्य होगा। इस बात को उत्तराध्ययन सूत्र में धर्म के संदर्भ में घटित किया गया है। तीर्थंकर या गुरु हमारे पिता हैं। हम उनकी संतानें हैं। संसार में तीन तरह के मनुष्य होते हैं। मनुष्यत्व हमारी मूल पूंजी है। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बड़े भाई की तरह

मूल पूंजी को गंवा देते हैं और वे मरकर
हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विशेष
ाप भी नहीं करते। सामान्य जीवन जीते
हैं यानी मूल पूंजी को सुरक्षित रख लेते
साधना करते हैं। त्याग, तपस्या और
और कई श्रावक के रूप में साधना करते
होते हैं। वे मनुष्य मरकर या तो मोक्ष में
दा हो जाते हैं यानी छोटे भाई की तरह

अपना आकलन कर सकते हैं कि हम
क समान हैं? मैं आशा करूंगा धार्मिक
ई के समान ही होंगे। गीता के अनुसार
ा अपराध, हिंसा, झूठ, ठगी का जीवन
ासक्ति की प्रगाढ़ता है। तब आदमी
रता है। यद्यपि कभी-कभी आदमी को
ड़ सकता है पर जो लोग आवेश के
चरण करते हैं, वे आसक्ति से ग्रस्त हैं,

त। आसक्ति होती है तब आदमी दुःखी
सुख से जी सकता है। जीवन में अनेक
र्थिक समस्या आ सकती है, पारिवारिक
धी समस्या आ सकती है, पदावनति
कार अनेक स्थितियां, अनेक समस्याएं
ाओं से आदमी दुःखी बन जाता है।
आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक सूत्र दिया
' समस्या का आना एक बात है और
त है। समस्या तो बड़े-बड़े महापुरुषों के
दुःखी नहीं होते। आदमी समस्या को
ी, समस्या को समाहित करने का प्रयास
ना, परेशान हो जाना कोई समझदारी की
दिमाग को भारी न करे। शांत भाव से
धान क्या हो सकता है? शांत भाव से

सोचने से कोई समाधान भी नजर आ सकता है। कोई बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, समाधान के लिए आदमी को चिन्तन करना चाहिए। आदमी द्रष्टाभाव का विकास करे, घटना को द्रष्टाभाव से देखना सीखे। उसके साथ जुड़े नहीं। द्रष्टाभाव का विकास होने पर समस्या आने पर भी आदमी शांत रह सकता है और यदि घटना के साथ जुड़ जाता है तो फिर वह दुःखी या तात्कालिक सुखी बन सकता है। स्थायी सुख पाने के लिए आदमी को घटना से जुड़ने की अपेक्षा उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए।

जिस प्रकार हाथी कीचड़ में फंस जाता है तो उसका निकलना कितना भारी होता है। उसी प्रकार यह आसक्ति भी एक प्रकार का कीचड़ है। उससे निकलना बहुत मुश्किल होता है। एक गृहस्थ संसार में रहता है, घर-परिवार में रहता है। उसे अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। व्यापार भी करना होता है। रसोई आदि भी बनानी होती है। इन सारे कार्यों को करते हुए भी गृहस्थ अपने आपको निर्लिप्त रखने का प्रयास करे। आदमी अनासक्त जीवनशैली को स्वीकार कर लेता है तो काफी समाधिपूर्ण जीवन जी सकता है। यदि भीतर में अनासक्ति होगी तो भोग भी ज्यादा नहीं होंगे। भोग ज्यादा तभी होते हैं जब भीतर में उनके प्रति आकर्षण होता है। इसलिए आसक्ति को छोड़ने का अभ्यास करने के लिए भोग का त्याग भी आवश्यक होता है।

गीताकार ने यह संदेश दिया कि तुम कर्म तो भले करो, पर संगमुक्त कर्म करो। तब तुम कर्मयोगी बन जाओगे और कर्मयोगी के द्वारा जो कर्म किया जाता है वह विशेष बन्धन करने वाला नहीं होता।

२०

निर्लिप्त रहो

श्रीमद्भगवद्गीता में आसक्ति के संदर्भ में कहा गया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।३/१९।।

अर्जुन! तुम निरन्तर आसक्ति से रहित होकर कर्त्तव्य कर्म को अच्छी तरह करते रहो क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

आदमी अपरम की भूमिका में जीता है। अपरम की भूमिका में मोह रहता है, आवेश, आवेग भी यदा कदा प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जब आदमी मोहनीय कर्म पर विजय पा लेता है तो परम की भूमिका पर आरोहण हो जाता है। गीताकार ने कहा कि अगर तुम्हें परम की भूमिका पर जाना है, परमात्मा की स्थिति तक जाना है तो उसका सीधा रास्ता यही है कि आसक्ति मुक्त होकर कार्य करने का अभ्यास करो। परम को पाने के लिए इससे ज्यादा शॉर्टकट मिलना मुश्किल है। रास्ते की दूरी कम हो यह देखना आवश्यक होता है। उसके साथ-साथ रास्ता कैसा है यह भी देख लेना चाहिए। अनासक्ति का मार्ग दुर्गम नहीं है। आसक्ति और मोह में जीने वालों के लिए अनासक्ति का पथ दुर्गम हो सकता है परन्तु और कोई रास्ता नहीं है। अनासक्ति को तो स्वीकार करना पड़ेगा। तभी आदमी परम की भूमिका पर आरूढ़ हो सकेगा। परिवार के साथ रहते हुए अनासक्ति का जीवन जीना वास्तव में साधना साध्य है।

साधना के दो मार्ग बताए गए हैं—एकाकी साधना का मार्ग और संघबद्ध साधना का मार्ग। एकाकी साधना कठिन भी है और कहीं-कहीं आसान भी है। कठिन इसलिए है कि शरीर में गड़बड़ हो जाए तो कौन सेवा करे? कौन

सहयोग करे? अनेक व्यक्ति साथ हैं तो बीमारी में, तकलीफ में आलम्बन मिलना संभव हो जाता है। दूसरी ओर अकेले में इतनी सुविधा भी है कि न कोई तूं-तूं, न कोई मैं-मैं, न कोई झगड़ा। आदमी शांति से जी सकता है। हमारी साधना यह होनी चाहिए कि साथ में भी हम शांति से रह सकें। तूं-तूं मैं-मैं न करना पड़े, यह सोचकर अकेले जीना चाहें तो यह भी दुर्बलता है। साथ में रहकर तूं-तूं, मैं-मैं न हो शांति से रहें तो बड़ी बात है। इस दृष्टि से एकाकी साधना की अपेक्षा समूह में साधना करना ज्यादा कठिन काम है। प्रेक्षाध्यान शिविर का जब आयोजन होता है तब शिविरार्थी समूह की साधना में संलग्न होते हैं। यह समूह अल्पकाल के लिए होता है। कुछ दिन समूह में जीना कोई बड़ी बात नहीं है, आदमी जैसे-तैसे भी निकाल सकता है। शिविर में न विशेष बोलने का काम पड़ता है न कलह का खास मौका आता है। इसलिए शिविर में लोग शांत रह जाते हैं। मैं इसे कोई बड़ी बात नहीं मानता। जब व्यक्ति अपने परिवार में रहता है तब शांत रहता है तो मानना चाहिए साधना है, आदमी शांति से रह रहा है। कसौटी शिविर काल नहीं होता है। कसौटी घर का काल होता है, परिवार का काल होता है।

गीता में यही कहा गया है कार्य करो, उसमें अनासक्ति का अभ्यास रखो। नहीं खाना भी साधना का एक प्रकार है। खाते हुए भी खाद्य के प्रति मन में मोह न हो, आसक्ति न हो, राग न हो तो यह साधना का विशेष प्रकार है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कराते समय निर्देश दिया जाता है कि प्रियता और अप्रियता के भाव से मुक्त रहें। यह अनासक्ति की साधना है। श्वास के प्रति राग-द्वेष नहीं करना कोई बड़ी बात नहीं है। श्वास के प्रति क्या द्वेष करें? क्या राग करें? अपने साथ में रहने वालों के प्रति राग-द्वेष न करें तो बड़ी बात है। श्वास के प्रति रागद्वेष आने का ज्यादा मौका नहीं मिलता है। ज्यादा मौका मिलता है पदार्थों के प्रति राग-द्वेष आने का, व्यक्तियों के प्रति राग-द्वेष आने का।

केवल पढ़ने लिखने से कोई बड़ा नहीं होता है। बड़ा होने के अनेक हेतु हैं। बड़ा होने का एक कारण माना गया है वय। संसार में अवस्था से आदमी को बड़ा माना जाता है। एक घर में पांच भाई हैं तो जो पहले जन्मा वह बड़ा होगा। बड़ा होने का दूसरा कारण बताया गया—संयम पर्याय। जो पहले संयम को स्वीकार कर लेता है वह भी बड़ा होता है। एक नब्बे वर्ष का गृहस्थ नौ वर्ष के साधु को नमस्कार करता है। क्योंकि वहां अवस्था गौण होती है, संयम पर्याय मुख्य होता है। इसलिए संयम भी ज्येष्ठत्व का हेतु होता है। ज्ञान की

भी अपनी महत्ता है। विद्यालय में अध्यापक ऊंचा बैठता है, विद्यार्थी नीचे बैठता है। क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से अध्यापक बड़ा है। वह ज्ञान दाता है इसलिए उसका स्थान ऊंचा है। ज्ञान दाता को भी सम्मान देने की विधा है। वह भले अवस्था से छोटा है या बड़ा है। यदि उनसे ज्ञान लेना है तो उनका सम्मान करना चाहिए। ज्ञान देने वाले का असम्मान एक तरह से ज्ञान का असम्मान होता है। ज्ञान दाता निर्धन हो या धनवान। उसके पास ज्ञान है तो ज्ञान की दृष्टि से वह सम्मान्य होता है।

साधु-साध्वियां विभिन्न देशों से आते हैं, विभिन्न जातियों के हैं, विभिन्न प्रकार का भोजन करने वाले हैं। वे साथ रहते हैं। उनमें शांति रहे, यह खास बात है। जैन वाङ्मय में कहा गया है—

अनन्नदेस जाया अनन्नाहारपरिवड्ढियसरीरा।
जिणसासणमणुपत्ता सव्वे वि बंधवा होंति।।

साधु दीक्षित होते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रांत से आते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों से आते हैं किन्तु जैन शासन में दीक्षित होकर सब भाई-भाई हो जाते हैं। फिर जाति की बात समाप्त हो जाती है, प्रांत की बात खत्म हो जाती है। सब एक जैन शासन के साधक हैं, यह मानकर एक परिवार की तरह साथ में रहते हैं। एक परिवार की भावना जागना और राग-द्वेष के प्रपंच में न फंसना, स्वार्थ में न फंसना, यह चेतना जागती है तो फिर गीता की बात सही सिद्ध हो सकती है।

बड़ा बनने की उत्सुकता, लालसा भी आसक्ति है। बिना आसक्ति के बड़ा बनने की भावना पैदा ही नहीं होगी। पदलिप्सा भी आसक्ति का ही परिणाम है। हम लोग भी सोचें कि हमारे में कोई ऐसी कामना न आ जाए, जो हमारी योग्यता को कम कर दे। हां! यह कामना करें कि मैं ध्यान का अभ्यास करूं, शास्त्र के स्वाध्याय में पारंगत बनूं, सेवा करूं। अगर अमुक पदार्थ मिल जाए, अमुक स्थान मिल जाए, ऐसी कामना आ जाती है इसका मतलब आसक्ति का स्फुलिंग पैदा हुआ है। यह आसक्ति का कीटाणु ज्यादा बढ़ जाता है तो शरीर को खराब कर देता है। हमारे भावों को भी खराब कर देता है। हमारी चेतना को खराब कर देता है। इसलिए प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसे कीटाणु पैदा ही न हों और पैदा हो जाए तो जैसे डॉक्टर बीमारी के कीटाणुओं को दवाई से खत्म करने का प्रयास करता है वैसे ही साधक साधना के प्रयोग के द्वारा, अनुप्रेक्षा के द्वारा, चिन्तन के द्वारा आसक्ति के कीटाणुओं को खत्म

करने का प्रयास करे। इस अभ्यास से अनासक्ति की साधना पुष्ट हो सकती है। बीमारी का निदान कराने के लिए एक्से-रे, सोनोग्राफी, एम. आर. आई. सीटीस्केन आदि कई पद्धतियां है। यथार्थ की खोज के लिए भी अनेक पद्धतियां हैं। प्रेक्षा स्वयं के निदान का कारगर उपाय है। इस प्रेक्षा की आंख से हम भीतर को देखें। हमारे भीतर का यथार्थ सामने आ जाएगा। उसके बाद स्वयं का इलाज करें–दवाई लें, इंजेक्शन लगवाएं। वह इंजेक्शन अनुप्रेक्षा का होगा, वह इंजेक्शन संकल्प का होगा, वह इंजेक्शन ध्यान आदि का होगा। गीता में जो कहा गया, उस संदर्भ में हम उत्तराध्ययन को भी देखें। वहां कहा गया है–

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई।।८/४।।

जितने भी पदार्थ हैं उनको द्रष्टाभाव से देखो परन्तु लिप्त मत बनो। लिप्त नहीं होना साधना है। पदार्थों को भोगना है, काम में लेना है, व्यक्तियों से भी काम लेना है परन्तु उत्तराध्ययन की भाषा में उनमें लिप्त न हों। जो त्राता है, साधक है वह पदार्थों को ज्ञाताभाव, द्रष्टाभाव से जानता, देखता है पर भोक्ता नहीं बनता। गीता, उत्तराध्ययन आदि धर्म ग्रन्थों में जो बातें आई हैं उनमें बहुत समानता है। कहीं भाषा का अन्तर है पर कहीं-कहीं तो भाषा की समानता भी आंशिक रूप में मिलती है और भाव भी समान होता है। गीता और उत्तराध्ययन दोनों का संदेश एक समान है–निर्लिप्त रहो। जीवन में अलिप्तता की साधना करो। प्रेक्षाध्यान की साधना अलिप्तता की साधना है। क्योंकि प्रेक्षा का तात्पर्य है केवल देखना। राग-द्वेष न करना, यह साधना अनासक्ति को पुष्ट करने का एक तरीका है। हम परम को पाने के लिए, परम की भूमिका पर आरोहण करने के लिए अनासक्ति का पथ स्वीकार करें। इस पथ पर चलकर हम स्वयं परम बन जाएंगे। अभी हम अपरम हैं। अपरमता से परमता को प्राप्त हो जाएंगे। संस्कृत में ठीक कहा गया–**दीर्घं पश्यतु मा ह्रस्वम्।** हम दीर्घ को देखें, छोटी बात को न देखें। लक्ष्य बड़ा बनाएं, छोटा न बनाएं। परम की ओर हमारी दृष्टि हो, न कि अपरम की ओर हो। हम परमदर्शी बनें। परमदर्शी बनने के लिए साधना की अपेक्षा है। परम की दिशा में गतिमान बनें, प्रगतिमान बनें, यह हमारे लिए कल्याणकारी होगा।

२१

निष्काम प्रवृत्ति करो

कर्म और अकर्म के बारे में प्राचीन साहित्य में अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। जब तक प्राणी संसार में है वह कर्मशील बना रहता है किन्तु अकर्म का भी अपना महत्त्व है। योग शब्द का एक अर्थ साधना के परिप्रेक्ष्य में है और दूसरा अर्थ दर्शन से जुड़ा हुआ है। **कायवाङ्मनो व्यापारो योगः** शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। काययोग यानी शरीर से चलना, फिरना आदि। वचनयोग यानी वाणी से बोलना और मनोयोग यानी मन से चिन्तन करना, स्मृति करना, कल्पना करना। जैन वाङ्मय के अनुसार जब तक योग है हम पूर्णतया परमात्मा की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते। उसके लिए अयोग अवस्था को प्राप्त करना जरूरी है। जैन साधना पद्धति में दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—समिति और गुप्ति। सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है और असम्यक् प्रवृत्ति से बचना गुप्ति है। कर्म और अकर्म के संदर्भ में हम विचार करें तो अकर्म अच्छा है परंतु एक गार्हस्थ्य में रहने वाले व्यक्ति के लिए कर्म भी करणीय हो जाता है। साधु के लिए भी कर्म करणीय होता है। संघ में साधना करने वाले साधु को वृद्ध साधुओं की सेवा भी करनी होती है। श्रावक समाज या आम जनता के लिए भी कुछ काम करना होता है। वह भी कर्म है। और तो क्या, भिक्षा आदि के लिए भी जाना होता है, वह भी कर्म है। साधु के लिए यह सब करणीय हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।३/२०।।

अर्जुन! जनक आदि भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए तथा लोक संग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए।

कर्म करते-करते भी सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। जैन साधना पद्धति में निर्जरा शब्द आता है। निर्जरा अर्थात् कर्म काटना। साधुओं की सेवा करने से भी कर्म कटते हैं, निर्जरा होती है। धर्मोपदेश देने से भी पुराने कर्म कटते हैं। विनय करने से भी कर्म कटते हैं, निर्जरा होती है। कर्मयोग करते-करते निर्जरा भी हो सकती है और आत्मा की शुद्धि भी हो सकती है। एक ओर जहां संवर का महत्त्व है वहीं निर्जरा का भी अपना महत्त्व है। संवर तो निरोध की साधना है, निवृत्ति की साधना है और निर्जरा प्रवृत्ति से जुड़ी हुई होती है इसलिए वह कर्म है। कर्म योग को आवश्यक माना गया। जैन वाङ्मय में भी एक सीमा तक कर्म को अपेक्षित माना गया है और भगवद्गीता में भी कहा गया कि जनक आदि जो राजा या विशेष लोग हुए हैं, उन्होंने कर्मयोग की साधना की और वे कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हो गए।

लोक संग्रह भी आदमी के लिए करणीय होता है। गीता में लोक संग्रह शब्द का प्रयोग मिलता है। लोक संग्रह का अर्थ किया गया है—लोक मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए लोगों को असत् से विमुख करना और सत् के सम्मुख करना। निःस्वार्थ भाव से कर्म करना लोक संग्रह है। लोगों का उद्धार करना, जन कल्याण का काम करना भी लोक संग्रह है। जन कल्याण करने से आत्म कल्याण भी होता है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कराने वाले हमारे साधक या प्रशिक्षक लोक संग्रह के लिए, जनकल्याण के लिए प्रयोग करवाते हैं। हम लोग धर्मोपदेश, व्याख्यान आदि लोक संग्रह के लिए करते हैं ताकि लोगों को भी कुछ मिल जाए। हमारे पास जो यत्किंचित ज्ञान है हम उसे लोगों को बता सकें। हमारी बातें सुनने से लोगों को शांति मिल सकती है और कम से कम आधा घण्टा या एक घण्टा, जितनी देर सुनेंगे उतनी देर तो अच्छे भावों में रह सकेंगे। यदि कोई बात दिमाग में बैठ गई तो उसका आचरण भी हो सकता है। गुरुदेव तुलसी ने कितनी यात्राएं कीं। कहां दक्षिण भारत, कहां कन्याकुमारी, कहां पंजाब, कहां कोलकाता, कहां दिल्ली, कहां राजस्थान, पैरों से चलकर कितने घूमे? इतना परिश्रम लोक संग्रह के लिए किया। कई दशक बीत गए पर लोग आज भी याद करते हैं कि आचार्य तुलसी आए थे। वे अणुव्रत की बात कहा करते थे। उस समय अनेक लोगों ने अणुव्रत को समझा और स्वीकार भी किया। इस प्रकार यात्रा करने से भी लोक संग्रह होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी गुरुदेव तुलसी के साथ बहुत घूमे और गुरुदेव तुलसी के बाद भी उन्होंने 'अहिंसा यात्रा' की। अनेक लोगों को अहिंसा को समझने का और उसे स्वीकार करने का मौका मिला। हमारे अनेक साधु-साध्वियां यात्राएं करते हैं।

यात्राओं से जन-सम्पर्क होता है और लोगों को धर्म श्रवण करने का अवसर भी मिलता है।

कामनामुक्त होकर कर्म करना, दूसरों की भलाई के लिए, कल्याण के लिए कर्म करना कर्म योग हो जाता है और लोक संग्रह की बात भी हो जाती है। जहां कामना आ गई वहां कर्मयोग में कमी आ गई। कर्म के साथ आसक्ति न रहे। परोपकार की भावना रहे, निष्कामता रहे, वह कर्म आत्मा को निर्मल बनाने में सहयोगी बन जाता है। साधु के लिए कहा गया कि कहीं प्रतिबद्ध मत बनो। अमुक गांव में ही रहना, अमुक नगर में ही रहना, ऐसा मोह मत करो। घूमते रहो। एक जगह जम करके रह गए और वहां आसक्ति हो गई तो साधना में बाधा आ जाएगी। हम साधुओं का विहार क्रम चलता है। हम यदा कदा कहा करते हैं–

साधु तो रमता भला, दाग न लागै कोय।
पाणी तो बहता भला, पड्या गंदिला होय।।

पानी कहीं जम जाए तो गंदा हो जाता है, इसी तरह साधु आसक्ति के कारण कहीं जमकर रहता है तो उसकी आत्मा गंदी हो जाती है। इसलिए साधुओं के लिए विहार करना प्रशस्त है ताकि कहीं मोह न हो, आसक्ति न हो। आसक्ति से यहां भी समस्या पैदा हो सकती है और आदमी की आत्मा का उत्थान होने में भी अवरोध पैदा हो जाता है, इसलिए जैन आगमों ने भी कहा और गीता ने भी कहा कि आसक्ति का त्याग करो और कर्मयोगी बनो। प्रवृत्ति अच्छी करो, निष्काम भाव रखो। फलाशंसा मत रखो कि मैं यह करूं तो मुझे वापस यह मिल जाए। शुद्ध सेवा भावना से काम करो, वापस बदले में कुछ पाने की भावना मत रखो। कुछ पाने की भावना करने का मतलब है सेवा का महत्त्व कम कर देना। आत्मा की दृष्टि से सेवा का जो लाभ मिल सकता है उस लाभ में कमी आ जाएगी। हम लोग आगम का स्वाध्याय कर रहे थे। उसमें एक बात आई कि भगवान महावीर के समय साधु-साध्वियों ने निदान कर लिया। राजा श्रेणिक और उसकी रानी चेलना को देखा तो साधुओं ने सोचा कि कितनी सुन्दर रानी है। अगर हमारी तपस्या का, हमारी साधना का कोई फल हो तो हमें भी अगले भव में ऐसी रानी मिल जाए। साध्वियों ने सोच लिया कि अगर हमारी तपस्या, साधना और ब्रह्मचर्य की आराधना का कोई फल हो तो हमें अगले जन्म में श्रेणिक जैसा पुरुष पति के रूप में मिल जाए। कामना करना, निदान करना तपस्या या साधना को बेचना होता है। उनको

संबोध दिया गया कि निदान करने से तुम्हारी साधना नष्ट हो जाएगी। आखिर उन्होंने अपने कृत का प्रायश्चित्त कर लिया।

पंडित नेहरू का एक प्रसंग मैंने सुना था। उनके पिता मोतीलालजी नेहरू एक बार घूमने के लिए कुछ व्यक्तियों के साथ गए। एक बाबा साधना कर रहा था।

मोतीलालजी—बाबा! मेरे कोई पुत्र नहीं है। आप मुझे पुत्र का वरदान दो।

बाबा—भाई! मैं साधना करता हूं। तुमको पुत्र का वरदान देकर क्या मैं अपनी साधना को बेच दूं? ऐसा काम मैं नहीं करना चाहता।

मोतीलालजी ने बहुत आग्रह किया कि मुझे वरदान दीजिए, जिससे मेरे संतान हो जाए, बेटा हो जाए।

बाबा—तुमको अति आग्रह नहीं करना चाहिए पर तुमने कर लिया, खैर मैं देखता हूं।

मोतीलालजी लौट गए। अगले दिन वे वापिस घूमने गए तो देखा वह संन्यासी डेड बॉडी के रूप में पड़ा था। वहां उसकी पार्थिव देह पड़ी थी। कुछ समय बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू का जन्म हो गया। तब ऐसा अनुमान लगा कि उस महात्मा ने कोई ऐसा प्रयोग किया होगा कि वह दिव्यात्मा मोतीलालजी के पुत्र के रूप में पैदा हो गई होगी। साधना के फल की इच्छा हो जाती है, भौतिक फल की इच्छा हो जाती है तो थोड़े में तपस्या बिक जाती है। इसलिए कामना नहीं करनी चाहिए, निष्काम रहना चाहिए। निष्काम भाव से सेवा करना, दूसरों का हित करना, अच्छी प्रवृत्ति करना कर्म योग होता है।

गीता का और जैन वाङ्मय का संदेश है कि निष्काम भाव से प्रवृत्ति करो, शुद्ध प्रवृत्ति करो, वह प्रवृत्ति अथवा कर्म योग कल्याणकारी हो सकेगा।

२२

श्रेष्ठता का विकास हो

हमारी दुनिया में कुछ श्रेष्ठ लोग होते हैं, कुछ मध्यम या सामान्य स्थिति के लोग होते हैं और कुछ अधम स्थिति के लोग भी मिल जाते हैं। यह दुनिया बहुरंगी है। **बहुरत्ना वसुन्धरा** धरती में अनेक प्रकार के रत्न हैं तो कुछ कंकर भी हैं। एक समूह या समाज जहां होता है वहां कुछ व्यक्ति बहुत अच्छे मिल सकते हैं तो कुछ व्यक्ति सामान्य की रेखा से नीचे भी मिल सकते हैं। सामान्य की रेखा से नीचे का मतलब है जिनमें स्थिरता की कमी है, शालीनता की कमी है, सभ्यता की कमी है, विनयशीलता भी नहीं है, जिनमें ज्ञान या समझ का भी अभाव है और जिनकी वृत्तियों में उत्तेजना का प्राबल्य है। जिस प्रकार समुद्र में अच्छी चीजें मिलती है तो अवांछनीय और अनपेक्षित चीजें भी मिल सकती है। उसी प्रकार एक समूह में सब कुछ समान नहीं होता, कुछ बातों में समानता हो सकती है तो कुछ बातों में असमानता भी देखने को मिलती है। परन्तु श्रेष्ठ व्यक्तियों को देखकर मध्यम स्थिति वाले व्यक्ति स्वयं में श्रेष्ठता का विकास कर सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदैवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।३/२१।।

श्रेष्ठ आदमी जैसा आचरण करता है उसे देखकर दूसरे भी वैसा आचरण करने लगते हैं। सामान्य आदमी उसे प्रमाण मानकर वैसा आचरण करने का प्रयास करता है। इसलिए जो श्रेष्ठ हैं उनका फर्ज होता है कि वे अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखें, वर्द्धमान रखें और दूसरे लोग उनकी श्रेष्ठता को आदर्श मानकर अपनी श्रेष्ठता का विकास करें। श्रेष्ठ व्यक्ति अगर गलतियां करता है तो दूसरों को भी फिर गलती सीखने का मौका मिल सकता है।

एक गणित का अध्यापक था। वह थोड़ा नाक से बोलता था। एक दिन

स्कूल में इंस्पेक्टर आया और उसने प्रथम कक्षा के विद्यार्थी से कहा—हिन्दी में गिनती बोलो। एक लड़का खड़ा हुआ, उसने थोड़ा अन्य प्रकार का उच्चारण किया—एंक, दों तींन। इंस्पेक्टर ने सोचा, इसने उच्चारण गलत किया है। दूसरे विद्यार्थी से पूछा तो उसने भी वैसा ही उच्चारण किया। तीसरे, चौथे आदि सब विद्यार्थियों का एक समान उच्चारण था। सब नाक से बोल रहे थे। तब इंस्पेक्टर ने प्रधानाध्यापक से कहा—क्या बात है मास्टर साहब! सारे विद्यार्थी गलत उच्चारण कैसे कर रहे हैं? तब प्रधानाध्यापक ने धीरे से कहा—महोदय! यह मेरी भूल है। हमने गणित का अध्यापक अभी नियुक्त किया है। उसे नाक से बोलने की आदत है। वह जैसा उच्चारण करता है वैसा ही उच्चारण इन विद्यार्थियों ने सीख लिया यानी जो आदर्श है, जो प्रशिक्षक है, श्रेष्ठ है वह गलतियां करेगा तो दूसरे भी गलतियां सीख लेंगे। वह किसी को गलत बात बता देता है तो कितनों के दिमाग में गलत धारणा बन जाती है। इसलिए श्रेष्ठ व्यक्ति को परिष्कृत होना चाहिए क्योंकि उसका अनुवर्तन दूसरे करते हैं। श्रेष्ठ कई तरह के होते हैं। एक संस्था/संगठन में जो प्रमुख लोग हैं, वे वहां के लिए श्रेष्ठ हैं। एक समाज में जो मुख्य लोग हैं, वे समाज के लिए श्रेष्ठ हैं। वे जैसा कार्य करते हैं उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। इसलिए गीताकार ने कहा है—श्रेष्ठ व्यक्तियों का जीवन इतना अच्छा होना चाहिए कि वास्तव में वह प्रमाण बन जाए और दूसरे उनके जीवन से सीखकर अपना जीवन भी अच्छा बना सकें।

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य संस्थापक आचार्य भिक्षु एक क्रांतिकारी व्यक्ति थे। उनकी साधना दिव्य थी, पुनीत थी। आगम साहित्य में बताया गया है कि जिसकी मां सिंह का स्वप्न देखती है, वह बच्चा मांडलिक राजा या भावितात्मा अणगार बनता है। आचार्य भिक्षु की संसारपक्षीया मां को भी गर्भागमन के समय सिंह का स्वप्न आया था। जब भीखणजी दीक्षा के लिए तैयार हुए तो उनकी मां ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। भीखणजी बड़े बुद्धिमान थे। वे अपने गुरु रघुनाथजी महाराज को घर लेकर आए।

आचार्य रघुनाथजी—दीपांबाई! भीखण की दीक्षा लेने की भावना है। तुम्हारी क्या इच्छा है?

दीपां बाई—बापजी महाराज! मैं दीक्षा की आज्ञा नहीं दूंगी।

आचार्य रघुनाथजी—क्यों बाईजी! क्या बात है?

दीपां बाई—जब यह गर्भ में आया था तब मुझे सिंह का सपना आया था

और मैंने सुना है जिसकी मां सिंह का स्वप्न देखती है वह बच्चा राजा बनता है। मैं तो राजमाता बनने वाली हूं। मैं इसको दीक्षा की आज्ञा कैसे दूं?

आचार्य रघुनाथजी—दीपां बाई! जिसकी मां शेर का स्वप्न देखती है उसका बेटा या तो राजा बनता है अथवा भावितात्मा अणगार बनता है। मुझे लगता है तुम्हारा बेटा साधु बनकर शेर की तरह दहाड़ेगा।

यह बात आचार्यश्री के मुख से सुनकर दीपां बाई बोल उठी—गुरुदेव! मैं तैयार हूं, आप इसे दीक्षा देने की कृपा करें।

ऐसा प्रतीत होता है आचार्य भिक्षु भावितात्मा अणगार थे। उनकी चेतना साधना से भावित थी। उनके पास उत्कृष्ट कोटि का ज्ञानबल और तर्कबल था। दिन रात उनका मस्तिष्क आगम स्वाध्याय करने, साधना करने, व्याख्यान देने, लोगों को समझाने और ग्रन्थों की रचना करने में लगा रहता था। उनकी आत्मा साधना से, शास्त्रीय ज्ञान से और तार्किक ज्ञान से भावित हो चुकी थी। ऐसे भावितात्मा अणगार आचार्य भिक्षु तेरापंथ संघ के संस्थापक बने। प्रारंभ में तो उनको आशा भी नहीं थी कि कोई समुदाय चलेगा। उन्होंने सोचा था हमें अपनी साधना करनी है और अपनी आत्मा का कल्याण करना है। फिर जब लगा कि एक संगठन बन रहा है, समुदाय आगे चलने वाला है तो फिर भीखणजी ने संगठन की चिरायुष्कता की दृष्टि से, संगठन की निर्मलता और मजबूती की दृष्टि से कुछ मर्यादाओं का भी निर्माण किया। हम लोग चतुर्दशी के दिन बहुधा उन मर्यादाओं का वाचन करते हैं, मर्यादा-पत्र पढ़ते हैं। यह मर्यादा पत्र भी मानो आर्षवाणी जैसा बना हुआ है। हम सभी साधना में आगे बढ़ें, मर्यादाओं के प्रति जागरूकता रखें, यह हमारे लिए श्रेयस्कर होगा।

२३

असक्तभाव से कर्म करो

प्रवृत्ति करना हमारे जीवन का स्वभाव जैसा बना हुआ है। हम दिन-रात विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां करते रहते हैं। आदमी अनावश्यक प्रवृत्ति न करे और आवश्यक कार्य करते समय मोह का भाव प्रगाढ़ न बने। एक सामान्य आदमी भी प्रवृत्ति करता है और एक विशेष साधक भी प्रवृत्ति करता है परन्तु दोनों में अन्तर होता है। इस अन्तर को श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार बताया गया है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।३/२५।।

जिन्हें अध्यात्म का बोध प्राप्त नहीं है, वे अविद्वान लोग कर्म में सक्त हो जाते हैं, आसक्त हो जाते हैं। भोजन में, पदार्थों को देखने में, शब्दों को सुनने में यानी जो विभिन्न कार्यकलाप करते हैं, मोह या आसक्ति उनके साथ जुड़ी रहती है। परन्तु जो विद्वान लोग हैं, विद्या सम्पन्न लोग हैं वे असक्त भाव से कर्म करे, यह वांछनीय है। आसक्ति को छोड़ने के लिए आदमी को चिन्तन करना चाहिए। चेतना को अमर, शरीर को नश्वर माना गया है। आसक्ति करने से आत्मा मलिन होती है। उससे यहां भी दुःख हो सकता है और आगे भी दुःख हो सकता है। इसलिए आसक्ति को छोड़ना चाहिए ताकि आत्मा निर्मल बने। आदमी यहां भी शान्ति से रहे और उसकी अगली गति भी अच्छी हो सके।

एक सेठ बड़ा कंजूस था। उसकी धन में बड़ी आसक्ति थी। किसी को कुछ देना उसे अच्छा नहीं लगता। एक दिन एक संत उसके घर आए और कहने लगे— सेठ साहब! भिक्षा के लिए आए हैं। अगर आपके घर में भोजन बना हुआ हो और आप देना चाहें तो हम ले सकते हैं। सेठ का मन तो नहीं था फिर भी एक चपाती संतों को बहरा दी। फिर संत ने कहा—सेठ साहब! एक और छोटा-

सा काम है।

सेठ—बोलो महाराज! क्या काम है?

संत—मेरे पास एक सूई है, वह मैं आपको देता हूं। आप मुझे अगले जन्म में वह सूई वापस कर देना।

सेठ मुस्कुराया और बोला—महात्मन्! सूई मेरे साथ चलेगी क्या? जो मैं अगले जन्म में वापस दे दूंगा।

सन्त—सेठ साहब! इतना पैसा, यह मकान, यह जमीन-जायदाद आपके साथ जाएगी क्या?

यह बात सुनते ही सेठ की आंखें खुल गई कि मेरे साथ कुछ भी नहीं जाएगा। अपना पुण्य-पाप साथ जाता है फिर मैं इतनी आसक्ति क्यों रखूं? विद्वान आदमी अनासक्त होकर क्रिया करना सीखे। आसक्त भाव से भी काम किया जा सकता है और अनासक्त भाव से भी काम किया जा सकता है। हमारे मन में कामना रहती है कि मुझे यह मिले, वह मिले। यह कामना भी हमारी साधना की प्रगति में बाधक है। आदमी मन में कामना न रखे। जिस चीज की अपेक्षा है वह मिल गई, उसमें संतुष्ट रहे, अनपेक्षित कामना न करे। यह कामना/आकांक्षा भी आसक्ति से जुड़ी हुई है। आसक्ति है तभी आदमी के मन में आकांक्षा का भाव पैदा होता है। मृत्यु एक ऐसा तत्त्व है जिसकी स्मृति करने से आदमी की आसक्ति को कम होने का मौका मिलता है। आदमी यह सोचे कि मुझे आगे जाना है। इस तन का क्या भरोसा है? यह शरीर तो नश्वर है, संसार की स्थिति अनित्य है। मृत्यु की स्मृति आदमी को पाप से उबारती है। अनेक ऐसे आलम्बन हैं जिनसे आदमी अनासक्ति का अभ्यास कर सकता है। आदमी यह चिन्तन करे कि ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाली एक मेरी आत्मा शाश्वत है।

जैन वाङ्मय में कहा गया—**मंदा मोहेण पाऊडा** मोह से आवृत लोग मंद चेतना वाले होते हैं। जैसे सूर्य के आगे मेघ आ जाने से सूर्य मंद हो जाता है और कभी-कभी वह दिखना भी बंद हो जाता है। इसी तरह मोह का मेघ चेतना के आगे आ जाने से हमारी चेतना का प्रकाश भी आच्छादित हो जाता है। इसलिए आदमी को सोचना चाहिए कि मेरा जीवन अच्छा रहे। मैं मोह और आसक्ति को छोडूं, अमोह और अनासक्ति की साधना करूं ताकि मेरी आत्मा का कल्याण हो सके। पदार्थ में आसक्ति हो सकती है। मौत की बात सामने

आते ही आसक्ति का भाव व गुस्सा कम होने लग जाता है और अनित्यता से संबंधित प्रसंगों को देखने पर भी आसक्ति को कम होने का अवसर मिलता है। पके पान के पत्तों को गिरते हुए देखकर कोंपलों को हंसी आ गई। पत्तों ने कहा—अरे कौंपलो! हंसती क्या हो? जो स्थिति आज मेरी हो रही है वही स्थिति कभी तुम्हारी भी होने वाली है। हंसो मत। इस रूपक को एक राजस्थानी कवि ने एक पद्य में गुंफित करते हुए कहा है—

पान पडन्तो दैखनै हंसीज कूंपलियां।
मो बीती तो बीतसी धीमी बापडियां।।

इससे यह बोध पाठ मिलता है कि सब अनित्य हैं। सबको जाना पड़ेगा। इस प्रकार अनित्य अनुप्रेक्षा करने पर हम आसक्ति और मोह को छोड़ने में कुछ सफल हो सकते हैं। गीता जैसे ग्रन्थ में भी जीवन की अनित्यता को दर्शाया गया है। दुनिया की नियति है कि जिसने जन्म लिया है उसे एक दिन जाना होगा। हमारा मन कभी दुःखी होता है, कभी खुशी में चला जाता है। ज्यादा दुःखी होना और ज्यादा खुश होना दोनों समता के विपरीत हैं। समता अर्थात् मध्यस्थ रहना, तटस्थ रहना। जो कोई भी स्थिति आ गई उसमें मन को संतुलित और शान्त बनाए रखने का प्रयास करना। परन्तु हमारी दुर्बलता है कि अनुकूलता की स्थिति में हमारा मन हर्ष में चला जाता है। प्रतिकूल स्थिति में हमारा मन शोकाकुल या दुःखी हो जाता है। उत्तराध्ययन में कहा गया—

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व।।८/६।।

ये काम-भोग दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों द्वारा ये सुत्यज नहीं हैं। जो सुव्रती साधु हैं, वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं जैसे वणिक समुद्र को।

आसक्तिमान लोगों के लिए काम भोगों को छोड़ना मुश्किल है। अधीर पुरुषों के लिए काम भोगों का परित्याग करना इसलिए मुश्किल है क्योंकि वे उनमें आसक्त रहते हैं। आदमी कोई ऐसा आलम्बन प्राप्त कर ले जिससे उसके मन में दुःख या ज्यादा खुशी न हो। राजा का एक मंत्री था। वह बड़ा समझदार, बुद्धिमान और साधक आदमी था। जब कोई घटना घटती तो मंत्री कहता, जो हुआ वह अच्छे के लिए हुआ। मंत्री का हर बात के लिए ऐसा बोलना राजा को अटपटा सा लगता। फिर भी चूंकि वह मंत्री था इसलिए राजा उसे टोकता नहीं था। एक बार मंत्री और राजा दोनों घूमने के लिए निकले। मार्ग में कंदिली झाड़ियां आईं। राजा उनमें उलझकर गिर गया और राजा की एक अंगुली कट गई, खून बहने लगा। राजा ने कहा—मंत्री! मेरी अंगुली कट गई, खून आ गया। तत्काल मंत्री के मुंह से निकला—जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ। राजा को गुस्सा आ गया। उसने सोचा, मैं तो तकलीफ में हूं और

यह कहता है कि जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ। राजा ने उसी समय मंत्री को पद से बर्खास्त कर दिया। मंत्री फिर बोला—जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ और वहां से चला गया। राजा अब जंगल में अकेला था। थोड़ी देर बाद जब भूख प्यास लगी तो पास में भीलों की बस्ती थी, उसमें चला गया। भील लोगों ने उसको भोजन दे दिया और पानी भी पिला दिया। फिर राजा को किसी देवी के मंदिर में ले गए। राजा ने देखा, कोई हट्टा-कट्टा आदमी हाथ में शस्त्र लेकर आ रहा है। तब राजा को आशंका हुई कि कुछ न कुछ गड़बड़ है। वह आदमी राजा के पास आया। राजा के शरीर को ध्यान से देखा। जब राजा की एक अंगुली को कटा हुआ देखा तो उसे छोड़ दिया। राजा वहां से तेज गति से चला, जैसे-तैसे बस्ती को पार किया और अपने महल में आ गया। राजा का मन शान्त हुआ। उसने मंत्री को वापस बुलाया और कहा—मंत्रीजी! मैंने भूल कर दी, जल्दबाजी में निर्णय लेकर आपको बर्खास्त कर दिया। अब आप वापिस मंत्रीपद को सुशोभित करें। भूतपूर्वमंत्री ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा।

राजा ने कहा—मंत्रीजी! मेरी अंगुली कटने के बाद आपने कहा कि जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ, वह वास्तव में अच्छे के लिए हुआ।

मंत्री—क्यों महाराज! क्या हुआ?

राजा—तुम्हारे जाने के बाद मैं अकेला रह गया और भूख-प्यास से आकुल होकर भीलों की बस्ती में चला गया। वहां बलि चढ़ाने के लिए मुझे मंदिर में ले जाया गया किंतु जब अंगुली कटी दिखी तो मुझे बली चढ़ाने के अयोग्य मानकर छोड़ दिया गया। मेरी अंगुली का कटना अच्छे के लिए हुआ वरना मेरी बलि चढ़ा दी जाती। किन्तु जब मैंने तुमको बर्खास्त किया तब भी तुमने यही कहा था, जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ। तुम जैसे योग्य मंत्री को बर्खास्त करना अच्छे के लिए कैसे हुआ।

मंत्री बोला—महाराज! वह भी अच्छे के लिए हुआ। अगर आप मुझे बर्खास्त न करते तो मैं आपके साथ जाता और भील लोग कटी अंगुली देखकर आपको तो छोड़ देते और मेरी बली वहां चढ़ा देते। आपने अच्छा किया मुझे पहले ही हटा दिया। आप भी बच गए और मैं भी बच गया। महाराज! जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ।

ऐसे कुछ आलम्बन सूत्र होते हैं, जो आदमी के मन को समता की स्थिति में रखने में सहायक बनते हैं और आदमी का मन असंतुलित होने से बच जाता है। जहां मानसिक असंतुलन हो जाता है वहां आदमी के द्वारा गलत कदम उठा लिया जाता है। हम गीता और उत्तराध्ययन के इस संदेश को आत्मसात् करने का प्रयास करें कि हमारा प्रत्येक कार्य अनासक्त भाव से संपादित हो, जिससे हमारी आत्मा पवित्र बन सके।

२४

राग-द्वेष मुक्त रहो

आदमी के जीवन में इन्द्रियां अनिवार्यतया होती है। दुनिया में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसके एक भी इन्द्रिय न हो। पेड़-पौधे आदि जो स्थावर प्राणी हैं, उनमें भी कम से कम एक इन्द्रिय तो होती ही है। यदि इन्द्रिय नहीं है तो फिर वह प्राणी भी नहीं है। केवलज्ञानी के क्षयोपशम रूप में इन्द्रियां नहीं होती, पर इन्द्रियों का आकार तो उनके भी होता है। देवों के इन्द्रियां होती हैं। नारक के भी इन्द्रियां होती हैं। पशु आदि सब प्राणियों में इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों के अपने-अपने नियत विषय होते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द। श्रोत्र अर्थात् कान। कान के द्वारा शब्द का श्रवण किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय का विषय है रूप। चक्षु अर्थात् आंख। आंख के द्वारा रूप का अवलोकन किया जाता है। घ्राणेन्द्रिय का विषय है गंध। घ्राण अर्थात् नाक। नासिका के द्वारा गंध का उपादान किया जाता है और रसनेन्द्रिय का विषय है रस। रसन अर्थात् जिह्वा। जिह्वा के द्वारा रस का आस्वाद लिया जाता है और स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है—स्पर्श। स्पर्श अर्थात् त्वचा। त्वचा के द्वारा स्पर्श की अनुभूति की जाती है।

अगर इन्द्रियां न हो तो हमारे ज्ञान का एक सक्षम साधन नहीं रहेगा। हम आंख से देखकर पुस्तकें आदि पढ़ते हैं। आंख है तो पढ़कर हम कितना ज्ञान कर लेते हैं। हालांकि अंधों के लिए भी विद्या संस्थान होते हैं, अंधों की अपनी लिपि, पढ़ने का अपना तरीका होता है परन्तु चक्षुष्मान आदमी जिस आसानी से ज्ञान प्राप्त कर सकता है वह प्रक्षाचक्षु के लिए कहां संभव है?

इन्द्रियां ज्ञान का साधन भी हैं और इन्द्रियां भोगों को भोगने का साधन भी बनती हैं। जैन तत्त्वविद्या में पांच इन्द्रियों को दो भागों में बांटा गया है। श्रोत्र और चक्षु—इन दोनों को कामी इंद्रियां कहा गया है। घ्राण, रसन और

स्पर्शन—इन तीनों को भोगी इन्द्रियां कहा गया है। कारण स्पष्ट है—त्वचा के द्वारा जिस प्रकार भोग भोगा जाता है या जीभ के द्वारा जिस प्रकार पदार्थ का स्वाद लेकर भोग भोगा जाता है, नासिका के द्वारा जिस प्रकार गंध का भोग भोगा जाता है, वैसे चक्षु और श्रोत्र से भोग नहीं भोगा जाता। कोई व्यक्ति रूप देखता है। रूप अलग है और आंख अलग है। रूप आंख के अन्दर नहीं जाता है। कान में शब्द आए, शब्द आने से भोग नहीं हुआ। शब्दों का अर्थ समझने से कुछ भोग होता है। इसलिए इन दो इन्द्रियों के भोग का तरीका अलग है और उन तीन इन्द्रियों के भोग का तरीका अलग है। दो इन्द्रियों का भोग कामना के रूप में होता है और तीन इन्द्रियों से साक्षात् भोग होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३/३४।।

इन्द्रिय और इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।

इन्द्रिय-विषय के साथ राग-द्वेष जुड़े हुए हैं। कोई साधक व्यक्ति ही राग-द्वेष मुक्त रह सकता है। सामान्यतया इन्द्रिय-विषयों के साथ राग-द्वेष होता ही है। हम अनुभव कर सकते हैं कि किस प्रकार हमारे मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष का भाव आ जाता है। जो साधक होता है वह भले कुछ भी सुने, कुछ भी देखे, राग-द्वेष मुक्त रह सकता है। पंडित मदनमोहन मालवीय के पास एक व्यक्ति आया और बोला—पंडितजी! मैंने बड़ी साधना की है।

पंडितजी—क्या साधना की है?

व्यक्ति—मैंने गुस्से को जीतने की साधना की है। कोई मुझे कुछ भी कह दे, डांट दे, मैं गुस्सा नहीं करता। आप चाहें तो मुझे सौ गालियां देकर परीक्षण कर लें, मैं गुस्सा नहीं करूंगा।

पंडितजी—भाई! तुमने अवश्य ही साधना की होगी। इसमें मैं क्यों आशंका करूं और क्यों सौ गालियां देकर अपना मुंह गन्दा करूं?

गलत शब्द बोलने से, झूठ बोलने से, आक्रोशपूर्ण शब्द बोलने से हमारा मुंह गन्दा हो जाता है। हमारे मुंह से ऐसी कोई बात न निकले जो हमारे मुंह को

गंदा करने वाली हो और ऐसी चीज हम मुंह में न लें जो अखाद्य हो, अपेय हो। हम अपने मुंह को पवित्र बनाने के लिए अच्छा पाठ उच्चरित करें, अच्छी स्तुति करें, नमस्कार महामंत्र आदि पवित्र मंत्रों का जप करें, सत्यभाषा का प्रयोग करें तो हमारा मुंह अच्छा हो सकता है। गीताकार ने कहा है कि इन्द्रिय का इन्द्रिय-विषय के साथ संबंध होता है। उसके साथ रागद्वेष भी रहता है। उसके कारण आदमी कभी राग में चला जाता है और कभी द्वेष में चला जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

भोगामिसदोसविसण्णे हियनिस्सेय बुद्धि वोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलंमि।।८/५।।

जो अज्ञानी है, बाल है और जो कल्याणकारी, हितकारी बुद्धि से रहित है, वह पदार्थों में चिपक जाता है। जैसे श्लेष्म में मक्खी चिपक जाती है फिर उसके लिए उड़ना मुश्किल हो जाता है। इसी तरह अज्ञानी आदमी या रागी आदमी विषयों में, पदार्थों में चिपक जाता है। आसक्ति का चेप उसको चिपका देता है। गीता और उत्तराध्ययन दोनों में आसक्ति का वर्णन मिलता है।

इन्द्रियों के दो पलिमंथु हैं—राग और द्वेष। आदमी इनसे बचने का अभ्यास करे। राग-द्वेष मुक्त आदमी की हर क्रिया शुद्ध होती है, निर्मल होती है क्योंकि वह वीतरागता की स्थिति में पहुंच जाता है। एक साधु में भी कभी राग की चेतना और कभी द्वेष की चेतना आ जाती है। इसलिए कभी साधु गुस्से में चला जाता है तो कभी इतना आसक्त हो जाता है कि साधना के पथ से भ्रष्ट भी हो जाता है, च्युत हो जाता है। छोटी-मोटी वस्तुओं में भी राग आ जाता है। कुछ पदार्थों के प्रति आसक्ति हो सकती है पर साधक यह सोचे कि मुझे इस आसक्ति का परित्याग करना है।

आसक्ति हमारे मन में कहां है उसकी खोज करें। जैसे—डॉक्टर सोनोग्राफी, एक्स-रे, एम. आर. आई. आदि के द्वारा शरीर की समस्या को खोजता है और उसका निदान करता है। उसी प्रकार हम भी अपने भीतर झांकें, चिन्तन करें कि हमारा जीवन किस प्रकार चल रहा है? जीवन में जो कमियां हैं, उनको निराकृत करने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास बड़ी चीज है। हमारे जीवन में पुरुषार्थ और अभ्यास का बड़ा मूल्य है। अभ्यास और पुरुषार्थ करना आदमी का धर्म है। अभ्यास के द्वारा आदमी सफलता को प्राप्त कर सकता है। आदमी को भाग्य के भरोसे नहीं रहना चाहिए। आदमी का काम पुरुषार्थ करना है। पुरुषार्थ करने पर भी कभी सफलता न मिले तो मन में अफसोस नहीं करना

चाहिए। यदि पुरुषार्थ अच्छा होता है तो उसका फल भी किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। हमारा काम है अनासक्ति की साधना करना। एक साधु दीक्षा लेता है। घर, परिवार, सगे संबंधियों को छोड़ता है। कितना बड़ा अनासक्ति का प्रयोग है। आसक्ति का परित्याग एक बड़ी साधना होती है।

गीता और उत्तराध्ययन में बताया गया कि राग-द्वेष के वशीभूत मत बनो, जीवन के हर क्रिया कलाप में ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास हो, भोक्ता भाव, अहंकार भाव, आसक्ति के भाव को छोड़ने का प्रयास करो।

हम सभी के लिए यह ध्यातव्य है कि हम आसक्ति मुक्त बनने का अभ्यास करें। अनासक्ति के अभ्यास के द्वारा ही आदमी परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है और आत्मा का कल्याण कर सकता है।

२५

स्वधर्म में रहो

चैतन्य की अनन्तकाल की यात्रा में ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर आते हैं जब आत्मा संयम की दिशा में प्रखर संकल्प के साथ आगे बढ़ती है। गृहस्थ का जीवन जीना एक बात है और साधुत्व का जीवन जीना विशेष बात है। जो लोग गृहत्यागी होते हैं और संयम की साधना का अभ्यास करते हैं, वे आत्मा के आस-पास रहते हैं। गृहस्थ भी आत्मा के आस-पास रह सकता है। कुछ गृहस्थ कुछ भिक्षुओं से भी ज्यादा संयम वाले होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा।।५/२०।।

कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है। कुछ गृहस्थ ऐसे होते हैं जो घर में रहते हुए भी बहुत अच्छे साधक बन जाते हैं। उनके लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाता है—गृहस्थ संन्यासी। गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी जैसा जीवन जीने वाला। जो गृहस्थ परिवार में रहता हुआ निर्लिप्त रहता है। जो अपना आवश्यक काम करके अपनी साधना में लग जाता है। जो गुस्सा व छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करता। जो कषाय मंदता का जीवन जीता है। संयम जिसकी हर क्रिया में झलकता है। ऐसा गृहस्थ व्यक्ति ही संन्यासी कहलाने के लायक है। वैसे आमतौर से साधु तो बड़ा होता ही है। साधु के पास त्याग-संयम की संपदा होती है इसीलिए साधु को तीन लोक का नाथ भी कहा जाता है।

तीन लोक का नाथ वह बन सकता है जो अकिंचन होता है। जिसके पास लाख रुपये हैं, वह लखपति कहलाता है। जिसके पास करोड़ रुपये हैं, वह करोड़पति कहलाता है और जिसके पास अरब हैं, वह अरबपति कहलाता है।

जिसके पास जितनी संपदा होती है, वह उतने का मालिक बन सकता है पर जिसके पास कुछ नहीं है, जिसने सब कुछ त्याग दिया, वह तीन लोक का मालिक बन जाता है। क्योंकि उसके मन में कोई आशंसा नहीं होती, लालसा नहीं होती। हर कोई व्यक्ति साधु बन जाए, यह संभव नहीं है इसलिए दूसरा मार्ग बताया गया है अणुव्रत का। अणुव्रतों की दीक्षा सनातनी, मुसलमान, सिक्ख या कोई नास्तिक भी ले सकता है। अणुव्रती कोई भी बन सकता है। अणुव्रत जैन नहीं बल्कि गुड मैन बनाता है, संयम और त्याग की बात बताता है। वह कहता है हिंसा का संयम करो, निरपराध त्रस प्राणी की हत्या मत करो, अप्रामाणिकता से बचने की चेष्टा करो, नशा मुक्त रहो, मानवीय एकता में विश्वास रखो आदि अणुव्रत के कुछ नियम हैं जो गृहस्थ भी निभा सकता है। गार्हस्थ्य में रहते हुए इन व्रतों का पालन किया जा सकता है।

अणुव्रत एक मध्यम मार्ग है। अणुव्रत आदि की साधना करते करते किसी-किसी गृहस्थ में संयम की चेतना इतनी बढ़ जाती है कि भिक्षुओं में भी वह चेतना नहीं जागती है। यद्यपि गृहस्थ है तो उसे गृहस्थ जीवन का कर्त्तव्य निभाना होता है। साधु को साधु जीवन का कर्त्तव्य निभाना होता है। अपना अपना कर्त्तव्य निभाना एक उपयुक्त बात होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।।३/३५।।

अपने धर्म में रहना, अपने कर्त्तव्य में रहना अच्छा है। दूसरे धर्म में जाकर अच्छा कार्य करने की अपेक्षा अपने धर्म में रहना ज्यादा अच्छा है। अपने धर्म में रहते-रहते मर जाना भी अच्छा है। परधर्म भयावह होता है। यहां स्वधर्म और परधर्म ये दो शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। धर्म का एक अर्थ कर्त्तव्य होता है। धर्म का एक अर्थ आत्मशुद्धि का साधन भी है और धर्म शब्द सम्प्रदाय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्ष शब्द मिलता है। आमतौर से इस शब्द की आलोचना की जाती है कि धर्म निरपेक्ष गलत है, पंथ निरपेक्ष कहना चाहिए। इस शब्द के बारे में मेरा विचार है कि धर्म शब्द का एक अर्थ पंथ या संप्रदाय भी होता है। जैसे हम बोलते ही हैं जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सनातन धर्म, सिक्ख धर्म, ईसाई धर्म आदि। संभवतः यहां धर्म शब्द एक पंथ या संप्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संविधान की भावना सही है कि भारत की जो शासन

प्रणाली है वह किसी धर्म विशेष की पक्षपाती नहीं होगी यानी वहां सब धर्मों को खुला स्थान मिलेगा, इस संदर्भ में धर्म निरपेक्ष शब्द मुझे गलत नहीं लगता।

गीता में स्वधर्म की बात कही गई है। उसको मैं दो अर्थों में व्यक्त करना चाहूंगा। धर्म का एक अर्थ किया गया—स्वभाव। जैन वाङ्मय में कहा गया—**धम्मो वत्थु सहाओ**। वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मा का स्वभाव धर्म है। अपने स्वभाव में, अपनी आत्मा में रहना अच्छा है। अपने स्वभाव से दूर हो जाना, पदार्थों में रहना, विषय भोगों में रहने का मतलब है परधर्म में रमण करना। पर स्वभाव में रमण करना पतन का हेतु भी बन सकता है। ऐसे कितने-कितने संत महर्षि हुए हैं जिन्होंने आत्मा की साधना की है और कर रहे हैं। यह स्वधर्म में रहने की बात है। कितने लोग ऐसे हैं जो आत्मा से दूर हैं, पदार्थों में आसक्त रहते हैं, रचे-पचे रहते हैं, वे परधर्म में रमण करने वाले होते हैं।

धर्म शब्द का दूसरा अर्थ है—कर्त्तव्य। अपना कर्त्तव्य श्रेयस्कर है। पर कर्त्तव्य ठीक नहीं होता। संतान को पढ़ाना, लिखाना, तैयार करना, उसकी अपेक्षाओं को पूरा करना, उसकी शादी की व्यवस्था करना, उसको काम धन्धे में लगा देना, यह पुत्र के प्रति पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य में अगर पिता जागरूक है तो गृहस्थ की दृष्टि से वह पिता स्वधर्म का पालन कर रहा है। जो पिता अपने पुत्रों की चिन्ता नहीं करता, दूसरों की चिन्ता करता है, वह परधर्म में निरत रहता है।

ज्यों-ज्यों साधक आत्मरमण करेगा, त्यों-त्यों रागद्वेष कम होगा। ज्यों-ज्यों राग-द्वेष कम होगा, त्यों-त्यों आत्मरमण की साधना आगे बढ़ेगी।

हम अपने स्वभाव में रहें। उसमें भले प्राण भी चले जाएं पर पदार्थों की आसक्ति में न जाएं। अगर हम अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहें, दूसरों के कर्त्तव्यों की ओर न जाएं तो हमारा कर्म अच्छा बनेगा। यह कर्त्तव्यनिष्ठा हमारे लिए कल्याणकारी हो सकेगी।

२६

भाव शुद्ध रखो

बाहर के संसार की तरह आदमी के भीतर भी एक संसार है। वह है शरीर के विभिन्न अवयवों का संसार। इससे भी भिन्न एक और संसार है। वह है भावों का संसार। आदमी के चित्त में अनेक प्रकार के भाव उभरते रहते हैं। जैन आगम आयारो में ठीक कहा गया—**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे** यह पुरुष अनेक चित्तों/भावों वाला होता है। उन भावों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—शुद्ध भाव और अशुद्ध भाव अथवा शुभ भाव और अशुभ भाव। कभी आदमी बड़ा शान्त, क्षमाशील दिखाई देता है तो कभी वह आक्रोश में आ जाता है। कभी वह विनम्रता का प्रयोग करते देखा जाता है तो कभी उसमें उद्दण्डता का दर्शन भी हो सकता है। कभी आदमी ऋजु व्यवहार करता है तो कभी वह कुटिल व्यवहार भी करने लग जाता है। कभी वह संतोषी दिखाई देता है तो कभी उसमें इच्छाओं की तरंगे भी तरंगित होती दिखाई देती हैं। कभी राग में दिखाई देता है तो कभी द्वेष में दिखाई देता है और कभी समत्व में भी दिखाई देता है।

ये सारे शुभ और अशुभ भाव हमारे भीतर रहते हैं और प्रकट भी होते रहते हैं। हमारे जो इमोशन्स हैं, वे सुप्तावस्था में न कोई विशेष लाभ देने वाले होते हैं और न नुकसान करने वाले। जब वे जागृत होते हैं, उभरते हैं तब उनका परिणाम मिलता है। आदमी जो प्रवृत्ति करता है, कार्य करता है उसके पीछे भी कोई प्रेरणा काम करती है। महाभारत का प्रसिद्ध श्लोक है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदये स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

मैं धर्म को जानता तो हूं परन्तु धर्म में मेरी प्रवृत्ति नहीं हो रही है। मैं अधर्म को जानता हूं परन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं हो रही है। मेरे हृदय में कोई

देवशक्ति विराजमान है। उस देव शक्ति के द्वारा जैसे मैं नियुक्त किया जाता हूं वैसे करने लग जाता हूं।

यह अंतःस्थित देव कौन है? हमारी चेतना के शुद्ध भाव देव रूप हैं और अशुद्ध भाव भी शक्ति के रूप में हैं। वह शक्ति जैसे आदमी को नियुक्त करती है, वैसे वह करने लगता है। जैन तत्त्वविद्या में भाव का प्रकरण आता है। उसमें भावों को जीव का स्वरूप माना गया है। गुरुदेव तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा है—**भावाः स्वरूपं जीवस्य।** भाव जीव का स्वरूप है। कर्मों के उदय या विलय से होने वाला भीतर का परिणमन भाव है। आठ कर्मों में मुख्य मोहनीय कर्म है। हमारे भाव जगत का संबंध मुख्यतः मोहनीय कर्म के साथ है। मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण गुस्सा आता है, अहंकार होता है। कुटिलता, लालसा, राग, द्वेष आदि मोहनीय कर्म के प्रभाव से होने वाले भाव हैं। क्षमा, समता, अहंकार-शून्यता, सरलता, संतोष आदि भाव मोहनीय कर्म के कमजोर पड़ने से उजागर होते हैं। अध्यात्म की साधना का उद्देश्य है मोह कर्म को कमजोर कर देना।

दुनिया में हिंसा, धोखाधड़ी, इन्द्रिय असंयम आदि अनैतिक कार्य और जितने भी अपराध होते हैं उनके पीछे मूल प्रेरणा मोहनीय कर्म की रहती है। गीता में काम और क्रोध की वृत्ति पाप के हेतुरूप में बताई गई है। उनकी तुलना उत्तराध्ययन के राग-द्वेष से की जा सकती है। दोनों में बड़ा साम्य दिखाई देता है। राग के साथ काम और द्वेष के साथ क्रोध का साम्य दिखाई देता है।

आदमी यथार्थ का दर्शन करने का प्रयास करे। यथार्थ ज्ञान होने पर आदमी उसका आचरण करने का प्रयास करता है। जब आदमी बीमार होता है तब अगर बीमारी का कारण पकड़ में आ जाए तो उसका सही उपचार करके आदमी स्वस्थ हो सकता है। कभी-कभी उपचार से ज्यादा महत्त्व निदान का होता है। एलोपैथी प्रणाली में निदान पर काफी बल दिया जाता है। डॉक्टर टेस्टिंग आदि के द्वारा पहले निदान करते हैं फिर उसके निवारण का प्रयास करते हैं।

दो प्रकार की वृत्तियां बताई गई हैं—एक श्वानीवृत्ति यानी कुत्ते की वृत्ति। दूसरी सैंहीवृत्ति यानी शेर की वृत्ति। श्वानीवृत्ति अर्थात् मात्र कार्य को देख लेना। सैंहीवृत्ति अर्थात् कारण को देखना। एलोपैथी में सैंहीवृत्ति काफी प्रचलित है। आयुर्वेद में भी नाड़ी देखकर कारण का पता लगाने का प्रयास

किया जाता है। दोनों पद्धतियां अलग-अलग हैं पर मूल थ्योरी में समानता है कि पहले कारण को पकड़ो फिर निदान की बात करो। गीता और उत्तराध्ययन में भी यही बताया गया है कि अपराध तो कार्य है उसका कारण है काम, क्रोध और राग-द्वेष। व्यक्ति इन कारणों को जितना कमजोर बना देता है, जितना निवारित कर देता है उतना अपराध करने से बच जाता है। व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में अपराध के कुछ दूसरे निमित्त भी बन सकते हैं जैसे—अभाव, गरीबी, भूख आदि। इनके साथ भी जब काम, क्रोध या राग-द्वेष का भाव जुड़ जाता है तो आदमी अपराध की ओर चला जाता है। इन वृत्तियों के अभाव में आदमी भूख को सहन करता है पर भूख के कारण अपराध में नहीं जाता। राग-द्वेष और काम, क्रोध की वृत्ति आदमी को अपराध में जाने के लिए उत्प्रेरित करती रहती है।

यद्यपि सामान्य मानव में ये वृत्तियां तो मिलेगी परन्तु वृत्तियों के स्तर में अन्तर होता है। सामान्य रूप में वृत्तियां होंगी तो आदमी विशेष अपराध नहीं करेगा। ये वृत्तियां जब उग्र हो जाती हैं तो फिर आदमी अपराध में चला जाता है। इन वृत्तियों का संतुलन बना रहे। ये अतिमात्रा में न बढ़ जाएं, इतना सा ध्यान देना अपेक्षित है। धार्मिक साहित्य में पुरुषार्थ चतुष्टय बताया गया है—धर्म, मोक्ष, काम और अर्थ। धर्म और मोक्ष तो अध्यात्म से जुड़े हुए तत्त्व हैं। काम और अर्थ संसार से जुड़े हुए तत्त्व हैं। संसारी आदमी के जीवन में काम भी चलता है और अर्थ भी चलता है। काम और अर्थ दोनों अगर सीमा में रहते हैं तब तो ठीक हैं। अगर सीमा का लंघन हो जाता है तो आदमी अपराध करने लग जाता है। आदमी स्वयं का समीक्षण करे। इन वृत्तियों को संयत बनाने का अभ्यास करे।

नास्तिक दर्शन की विचारधारा के अनुसार आगे पीछे कुछ नहीं है। मात्र वर्तमान जीवन ही है। इस विचारधारा ने भोगवाद की संस्कृति को जन्म दिया। उसने कहा कि आगे पीछे कुछ नहीं है फिर तुम्हें किस बात की चिन्ता है? तुम खूब खाओ, पिओ, मस्ती करो। त्यागवाद की संस्कृति ने कहा कि आस्तिकवाद है, आत्मा है, आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। आत्मा पहले भी कहीं थी, मृत्यु के बाद भी कहीं रहेगी। इसलिए अपने कृत का फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। अगर त्याग में रहोगे, संयम में रहोगे तो तुम दुःखों से मुक्त रहोगे। यहां भी शान्ति से जी पाओगे और मरने के बाद भी तुम जहां जाओगे

वहां भी शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

आस्तिकवाद ने त्यागवाद की संस्कृति को प्रेरित किया। मेरा तो मंतव्य है कि कट्टर नास्तिकवादी तो किसी को बनना ही नहीं चाहिए। गीता और उत्तराध्ययन ने जो बताया है वह भी एक प्रकार से त्यागवाद की प्रेरणा देने का प्रयास है। क्योंकि उन्होंने अपराध का कारण बता दिया, कर्मबंध का कारण बता दिया कि अमुक कारणों से आदमी अपराध करता है। अमुक कारणों से कर्मों का बंध होता है। इसलिए तुम्हें इन कारणों को दूर करना चाहिए और अपने जीवन में काम, क्रोध और राग-द्वेष की वृत्तियों को नियंत्रित करके अपराध मुक्त व दोष मुक्त जीवन जीने का प्रयास करना चाहिए, जिससे वर्तमान जीवन भी ठीक रहता है और आगे भी सद्गति मिलने की संभावना बनती है।

२७

अणुव्रती बनो

हमारे सामने दो पथ हैं। एक अनुस्रोत का पथ और दूसरा प्रतिस्रोत का पथ। अनुस्रोत का मतलब है प्रवाह के साथ-साथ बह जाना और प्रतिस्रोत का मतलब है प्रवाह के प्रतिकूल यानी विरोधी दिशा में आगे बढ़ना। अनुस्रोत में बहना आसान होता है प्रतिस्रोत में बहना कठिन होता है। यदि हवा पीछे से आ रही है तो पथिक के लिए चलना आसान हो जाता है और यदि हवा सामने से आ रही है तो थोड़ा गतिरोध भी हो सकता है। संसार के भी दो पथ हैं। एक असंयम का पथ और दूसरा संयम का पथ। असंयम का पथ अनुस्रोतगामी है जैसे भोग भोगना, ऐशो आराम में रहना। इसमें सामान्य आदमी रहता है। संयम का पथ प्रतिस्रोतगामी है जैसे महाव्रतों को स्वीकार कर लेना, गृहत्याग कर देना, अध्यात्म साधना के लिए समर्पित हो जाना। जिस आदमी ने प्रतिस्रोत का लक्ष्य बनाया है, जिसमें कुछ होने की, बनने की भावना पैदा हुई है, उसे कुछ कठोरता का जीवन जीना होता है, प्रतिस्रोत में चलना होता है। पूर्णतया प्रतिस्रोत में चलना हर आदमी के लिए संभव नहीं होता। इसलिए एक बीच का मार्ग भी निकाला गया कि यदि महाव्रती न बन सको तो सर्वथा अव्रती भी मत रहो, बीच के मार्ग को अपनाकर अणुव्रती बन जाओ। अणुव्रत को स्वीकार करने से आदमी के जीवन में कुछ प्रतिस्रोतगामिता आ जाएगी।

अणुव्रत एक मध्यम मार्ग है, जिस पर चलना ज्यादा कठिन नहीं है। कुछ लोग अणुव्रत की नियमावली के आधार पर चलते हैं और प्रतिस्रोतगामिता का अभ्यास करते हैं। अणुव्रत की गतिविधि को प्रसारित करने के लिए एक वर्ग पर ध्यान दिया गया। वह है शिक्षक वर्ग। इससे दो लाभ हैं। पहला लाभ यह है कि शिक्षकों का स्वयं का जीवन उन्नत बनेगा, आदर्श बनेगा और निर्मल बनेगा। दूसरा लाभ है कि शिक्षक अणुव्रती होगा तो एक अच्छी वानरशक्ति तैयार हो जाएगी। श्री रामचन्द्रजी सीता को प्राप्त करने

के लिए लंका गए तब उनके साथ वानर सेना थी। सामने रावण की सेना यानी राक्षस सेना थी। श्रीराम ने वानर सेना के माध्यम से और स्वयं के व लक्ष्मण के पराक्रम से रावण को हत-प्रहत करके लंका पर विजय प्राप्त कर ली। उसी प्रकार गुरुदेव तुलसी ने भी शिक्षक, विद्यार्थी अणुव्रत रूपी वानर सेना को तैयार किया, जो अनैतिकता, बुराइयां, भ्रष्टाचार रूप राक्षस सेना से लड़कर उन्हें परास्त कर सके।

मेरे विचारानुसार अणुव्रत शिक्षक संसद के दो विभाग होने चाहिए। पहले विभाग के सदस्य फील्ड में सारे काम न कर सकें, कम से कम वे स्वयं शिक्षक अणुव्रतों को स्वीकार करें और इस बात के लिए संकल्पित हों कि हम अपने जीवन में या शिक्षक काल में शिक्षक अणुव्रत की आचार संहिता का पालन करेंगे। अणुव्रत के प्रति इतनी सी प्रतिबद्धता है तो उसे अणुव्रत शिक्षक संसद का सदस्य बनाने में कठिनाई नहीं लगती। वे और काम करें तो स्वागत, न करें तो कोई चिन्ता की बात नहीं, क्योंकि उनकी प्रतिबद्धता मात्र अणुव्रत के पालन तक है। कार्य करने के लिए वे मुक्त हैं, कर सकें तो करें अन्यथा न करें। अणुव्रत शिक्षक संसद के दूसरे विभाग के सदस्य शिक्षक अणुव्रतों का पालन तो करेंगे ही। इसके साथ वे इस बात के लिए प्रतिबद्ध होंगे कि अणुव्रत का प्रसार करने में अपनी शक्ति का नियोजन करेंगे।

जिनके पास सरस्वती है, श्रम करने की शक्ति है पर संसाधनों की कुछ कमी होती है तो कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकता। अकेली सरस्वती, अकेली लक्ष्मी और अकेली दुर्गा कितना काम कर सकेगी? अगर सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा तीनों अपनी कमेटी बना ले, तीनों मिल जाए तो बहुत अच्छा कार्य हो सकता है। एक ओर लक्ष्मी का सहयोग हो, सरस्वती का योगदान हो और दुर्गा का मनोबल हो। इन तीनों का योग हो तो कार्य करने में सुविधा हो जाती है। लक्ष्मी बिल्कुल दूर जाकर बैठ जाएगी, सरस्वती से नाराज रहेगी तो शिक्षक संसाधनों के अभाव में ज्यादा कुछ कर नहीं पाएगा इसलिए लक्ष्मी सरस्वती से नाराज न रहे। सरस्वती लक्ष्मी से नाराज न रहे। दुर्गा भी अलग-थलग न रहे। इन तीनों दिव्य शक्तियों की समिति का होना आवश्यक है। तीनों का समवाय हो जाता है तो फिर कार्य करने में सुविधा हो जाती है। शिक्षक के सामने दो कार्य मुख्य रूप से होते हैं। उसका पहला काम है विद्यार्थियों को ज्ञान दान देना। उसका दूसरा कार्य है बाल बच्चों का भरण पोषण कर सके वैसी व्यवस्था प्राप्त करना। शिक्षक यह सोचे कि अनुदान तो मुझे लेना पड़ता है, चूंकि मैं एक परिवार का सदस्य हूं इसलिए परिवार के प्रति मेरा फर्ज है। उस फर्ज को निभाने के लिए पैसा तो लेना पड़ता है पर शिक्षा का दान देना नहीं पड़ता। वह मुझे अपनी इच्छा से, अपनी खुशी से, अपनी सेवा भावना से देना चाहिए। शोषण न शिक्षक की तरफ से हो और न व्यवस्थापक

वर्ग की तरफ से हो। दोनों एक दूसरे के पोषण के प्रति जागरूक रहते हैं तो शिक्षक सफलता के साथ शिक्षा दान के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है और वह अपनी सेवा भी अच्छी तरह अर्पित कर सकता है। आदमी पैसे को अधिक महत्त्व दे और सेवा को गौण कर दे तो इसका मतलब है कहीं काम उसके भीतर में प्रस्फुटित हो रहा है, काम की चेतना उजागर हो रही है। इसलिए उसका पैसे के प्रति आकर्षण ज्यादा है और सेवा के प्रति आकर्षण कम है। श्रीमद्भगवद्गीता में काम से होने वाले नुकसान को सुन्दर रूपक के माध्यम से बताया गया है—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३/३८।।

जिस प्रकार धूएं से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।

अग्नि हो और धूआं छा जाए तो धूआं अग्नि को आवृत कर देता है। दर्पण पर मल लग गया, गंदगी लग गई फिर चेहरा देखने में कठिनाई होती है और जैसे जेर गर्भ को आवृत कर लेती है। इसी तरह सेवा की भावना या शुद्ध ज्ञान की चेतना को यह कामरूपी धूआं, मल और जेर आवृत कर देती है। यह काम हमारी ज्ञान चेतना को आवृत कर देता है। यह काम रूपी अग्नि संताप देने वाली है। इसे पूर्णतया समाप्त करना तो कठिन है पर उसको इतना कम कर दिया जाए कि हमारे कार्य में बाधक न बने। काम संतुलित रहे, आदमी की सेवा भावना प्रखर बनी रहे। पैसे की कामना सेवा की भावना को आवृत न करे। गीता में निष्काम कर्मयोग की बात कही गई है और जैन वाङ्मय में अनासक्ति की बात कही गई है। दोनों ग्रंथों में कहा गया है—कर्म करो, कर्मयोगी बनो। कर्म योगी वही बन सकता है जो फल की आशंसा छोड़ देता है। अणुव्रत के कार्यकर्ता मात्र सेवा की भावना से कार्य करें, कोई फलाशंसा नहीं रखें। गीता की भाषा में यह कर्मयोग हो जाएगा और जैन वाङ्मय के संदर्भ में निर्जरा का काम हो जाएगा, सेवा का काम हो जाएगा। जिसमें सेवा की भावना होती है वह परावलम्बिता को छोड़ स्वावलम्बिता की दिशा में आगे बढ़ जाता है।

समाज में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का योग बना रहे। मैं इनको प्रतीक के रूप में बता रहा हूं। समाज में तीनों शक्तियों की अपेक्षा होती है। समाज या संस्था को लक्ष्मी की शक्ति भी चाहिए, विद्या विवेक की शक्ति भी चाहिए और साथ में कार्य करने की, श्रम करने की शक्ति भी होनी चाहिए। तीनों का योग होता है तो हर संगठन अपने ढंग से अच्छा काम कर सकता है और विकास के शिखर पर आरोहण कर सकता है।

२८

कामचेतना को मंद करो

हमारे जीवन में तीन चीजें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—इन्द्रियां, मन और बुद्धि। हमें जितना ज्ञान बाह्य जगत से हो रहा है, उसमें इन्द्रियों का बड़ा योगदान है। आदमी भले सुनकर जाने, देखकर जाने, चखकर जाने, छूकर जाने या किसी भी रूप में जाने, ज्ञान की माध्यम इन्द्रियां बनती हैं। इसलिए इन्द्रियों की हमारे जीवन में बहुत उपयोगिता है। इन्द्रियों के साथ मन भी जुड़ा हुआ है। हम मन से सोचते हैं, कल्पना करते हैं, स्मृति करते हैं और चिन्तन के द्वारा कुछ निष्कर्ष भी निकालते हैं। इसलिए हमारे जीवन में मन का भी बड़ा महत्त्व है। अगर मन न हो तो हम असंज्ञी प्राणी बन जाएंगे। जिनके मन होता है वह संज्ञी प्राणी और जिनके मन नहीं होता वह असंज्ञी प्राणी होता है। हम संज्ञी प्राणी इसीलिए हैं कि हमारे पास मन है। तीसरी चीज है बुद्धि। जिसके पास बुद्धि का बल नहीं है, वह आदमी कमजोर रह जाता है। बुद्धि का बल नहीं है तो वह न तो गंभीर अध्ययन कर सकता है, न ज्यादा चिन्तन-मंथन कर सकता है, न वैज्ञानिक जगत में नई-नई खोजें कर सकता है और न ही सोच-विचार कर निष्कर्ष निकाल सकता है। आदमी बुद्धि के द्वारा अपने जीवन की और दूसरों के जीवन की समस्याओं का समाधान भी कर सकता है। बुद्धि है तो आदमी ज्ञान का विकास कर सकता है। यदि बुद्धि विपरीत हो जाए या बुद्धि न रहे तो फिर आदमी गलत रास्ते पर भी चला जाता है। संस्कृत भाषा का सूक्त है—**विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।** जब आदमी का विनाश निकट आता है तो उसकी बुद्धि भी विपरीत हो जाती है, गलत काम करने लग जाती है। रामायण में आता है कि रावण जैसे विद्वान आदमी की भी विनाशकाल में बुद्धि विपरीत हो गई। उसने सीता का हरण कर लिया और उसमें आसक्त हो गया। अन्त में रावण का विनाश हो गया। बुद्धि को कामधेनु गाय भी कहा गया है **शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनु।** आदमी बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। बुद्धि के लिए

अपेक्षित माना गया कि आदमी का चित्त स्वस्थ रहे। स्वस्थ चित्त में ही बुद्धि की स्फुरणा होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुन्दर कहा गया है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।३/४०।।

काम के तीन अधिष्ठान हैं, इन्द्रियां, मन और बुद्धि। इनके माध्यम से वह चेतना को विमूढ़ बना देता है और ज्ञान को आवृत कर देता है।

इन्द्रियों के साथ काम का संबंध होने पर वह विकृति को पैदा करता है। आदमी बढ़िया-बढ़िया शब्दों को सुनना चाहता है, अच्छे गानों को सुनना चाहता है, आत्मप्रशंसा को सुनना चाहता है। यह श्रोत्रेन्द्रिय के साथ काम जुड़ गया। आदमी अच्छे रूपों को देखना चाहता है। सुन्दर दृश्यों को देखने के लिए चक्षु तत्पर हो जाते हैं। यह चक्षुरिन्द्रिय के साथ काम का योग हो गया। अच्छी सुगन्ध सूंघने की इच्छा होने का मतलब है घ्राणेन्द्रिय के साथ काम जुड़ गया। स्वादिष्ट भोजन करने की इच्छा होती है, यह रसनेन्द्रिय के साथ काम का योग हो गया और त्वचा से भोग भोगने की, स्पर्श करने की इच्छा रहती है तो स्पर्शनेन्द्रिय के साथ काम का योग हो गया। पांचों इन्द्रियां काम का अधिष्ठान, काम के रहने का स्थान बन गई।

गीताकार ने कहा कि काम का दूसरा अधिष्ठान है मन। मन में तो कामना जागती ही रहती है। एक गरीब आदमी राजा के पास गया और कहा—महाराज! मैं बिल्कुल निर्धन हूं। मेरे पास जमीन तो है ही नहीं। आज आपका जन्म दिवस है, मुझे कुछ जमीन देने की कृपा करें। राजा ने कहा—तुम यहां से जितनी दूर जाकर आज सूर्यास्त तक मेरे पास वापस आ जाओगे, उतनी सारी जमीन मैं तुमको दे दूंगा। उस आदमी ने सुबह-सुबह दौड़ना शुरू किया, दस किलोमीटर, पन्द्रह किलोमीटर, बीस, पच्चीस, तीस, पैंतीस तक चला गया। लालसा जगी थोड़ा और आगे बढ़ूं, इतनी जमीन मुझे मिल जाएगी। यों भागते-भागते वह पचास किलोमीटर तक चला गया। उसे वापस भी आना था। वह वापस आने लगा किन्तु अब बिलकुल थक गया, चलना मुश्किल हो गया। उसे बीच में सोना पड़ा और वहीं सूर्य अस्त हो गया। वह वापस राजा के पास नहीं पहुंच सका। उसको जमीन कुछ भी नहीं मिल सकी। अगर सीमित दौड़ता तो वापस आ भी जाता, जमीन मिल भी जाती। कामना उसको इतनी दूर ले गई कि कुछ भी नहीं मिला।

तीसरा स्थान है बुद्धि। बुद्धि के साथ जब काम जुड़ जाता है तो आदमी

गलत दस्तावेज तैयार कर देता है। अनपढ़ लोग भी अपराध करते हैं और पढ़े-लिखे लोग भी अपराध करते हैं। पढ़े-लिखे लोग तो ज्यादा अच्छी तरह अपराध कर सकते हैं क्योंकि उनके पास दिमाग है। दिमाग से योजना बनाते हैं और अपराध को उत्पन्न कर देते हैं।

गांधीजी बैरिस्टर थे। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला—मैं संकट में हूं। मेरा एक केस आप अपने हाथ में लें और मुझे पार लगाएं।

गांधीजी—भाई! यह केस सच्चा है या झूठा?

व्यक्ति—मोहनदासजी! केस है तो झूठा किन्तु आप बड़े बुद्धिमान हैं। आप हाथ में ले लेंगे तो मुझे बचा लेंगे।

गांधीजी—मैं गलत केस हाथ में नहीं लूंगा।

व्यक्ति—मैं आपको बहुत पैसा दूंगा।

गांधीजी—कितना ही पैसा दो, गलत काम मैं हाथ में नहीं लूंगा।

वह किसी दूसरे एडवोकेट के पास गया और उससे बात की। उसने वह केस हाथ में ले लिया और उस आदमी को बचा भी लिया।

फिर वापस वह आदमी मोहनदासजी के पास आया और कहा—मोहनदासजी! आपने तो मेरा केस नहीं लिया किन्तु अमुक एडवोकेट ने लिया और मुझे पार भी लगा दिया। हालांकि पैसा तो मुझे काफी देना पड़ा।

गांधीजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा—तुमने केवल पैसा ही नहीं दिया, ईमानदारी की सम्पत्ति भी साथ में दे दी।

बुद्धि से आदमी गलत बात को भी कैसे सही बताने का प्रयास कर लेता है। बुद्धि के साथ जब काम को जोड़ दिया जाता है, काम उसमें रहने लग जाता है तो फिर बुद्धि गलत काम करने लग जाती है। यह एक वास्तविक स्थिति है कि काम के रहने का स्थान इन्द्रियां हैं, मन है और बुद्धि है। हम काम को यहां से हटाने का प्रयास करें। इन्द्रियों के साथ काम न जुड़े, मन के साथ काम न जुड़े और बुद्धि के साथ काम न जुड़े। जैसे गीता में इन्द्रियां, मन और बुद्धि की बात आती है, वैसे ही उत्तराध्ययन सूत्र में एक लम्बा प्रकरण है पांच इन्द्रियों, मन और भाव का।

इन्द्रियां, मन और बुद्धि हमारे जीवन के बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, जिनसे हमारा कितना काम हो रहा है। साधना के संदर्भ में हमें यह ध्यान देना है कि काम को कैसे यहां से निकाला जा सके, दूर किया जा सके। काम निकल गया

फिर इन्द्रियां शुद्ध हो जाएगी, मन भी शुद्ध हो जाएगा और बुद्धि भी शुद्ध हो जाएगी। काम जुड़ा रहेगा तो इन्द्रियां, मन और बुद्धि अशुद्ध रहेगी। जहां अशुद्धता है वहां कठिनाई है, समस्या है, पापकर्म का बंध है।

आदमी का चरित्र विकृत होता है। हम उसके मूल में जाएं तो हमें कहीं न कहीं काम मिलेगा। काम की भावना तीव्र है तो आदमी यदि दुकान करता है तो वहां धोखाधड़ी करेगा। कोई सर्विस करता है तो वहां भी कुछ गड़बड़ी कर सकता है। सत्ता हाथ में है तो वहां भी गड़बड़ी कर सकता है क्योंकि काम उसको प्रेरणा दे रहा है गड़बड़ी करने की। कोई मंत्री है या कोई अफसर है तो वहां कुछ बटोरने की चेष्टा करेगा। यह काम आदमी से गलत क्रिया करवा देता है। अपराध छोटा भी होता है और अपराध बड़ा भी हो जाता है। यदि काम सामान्य है तो आदमी सामान्य रूप में जीवन जीएगा और कोई ऐसा संवेग, वेग मन में जाग गया तो आदमी बड़ा अपराध भी कर सकता है। हालांकि क्रोध की वृत्ति के पीछे भी काम का दर्शन हो सकता है। काम है तो क्रोध को भी तेज होने का मौका मिल जाता है। हम बहुत ज्यादा सूक्ष्मता में न जा सकें तो स्थूल स्तर पर अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को और अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने का प्रयास करें।

इन्द्रियां, मन और बुद्धि शुद्ध रहें, मलिन न बनें, इसके लिए अपेक्षा है कि काम को दूर रखने का, काम को कमजोर करने का प्रयास करें। ज्यों-ज्यों काम दूर होता चला जाएगा, त्यों-त्यों हमारी इन्द्रियां, हमारा मन और हमारी बुद्धि परिष्कृत होते चले जाएंगे। आदमी के पास शक्तियां हैं पर वे शक्तियां दुरुपयुक्त हो जाती हैं, जब काम के साथ जुड़ जाती हैं। हम अपनी इन्द्रियों को, अपने मन को, अपनी बुद्धि को दुरुपयोग से बचाएं और उसके लिए काम की चेतना को कुछ मंद करने का प्रयास करें। हमें अवश्य सफलता प्राप्त होगी और हमारी इन्द्रियां, मन और बुद्धि स्वस्थ और शुद्ध रह सकेगी।

२९

कामना त्यागो

हमारे जीवन में इन्द्रियों का महत्त्व है, मन का महत्त्व है और बुद्धि का भी बहुत महत्त्व है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि एक शृंखला में जुड़ी हुई चीजें लगती हैं। इन्द्रियां ज्ञान का और भोग का माध्यम बनती हैं किन्तु मन न हो तो मात्र इन्द्रियां क्या करेगी? इन्द्रियों के साथ मन जुड़ता है तब कुछ परिपूर्णता आती है। मन के बिना इन्द्रियों का महत्त्व कम हो जाता है। हम इन्द्रियों से पदार्थों को जानते हैं फिर मन से उस पर विचार करते हैं। मन में प्रतिक्रियाएं भी होती हैं। बुद्धि से आदमी समझता है, ज्ञान को बढ़ाता है, निर्णय करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इन तीनों पर विचार किया गया है। वहां बताया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।३/४२।।

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर मन है मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है।

शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां ज्यादा श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियां हैं इसलिए विषयों का उपयोग है। इन्द्रियां न हो तो विषयों का, पदार्थों का क्या उपयोग होता? पदार्थों की अपेक्षा, विषयों की अपेक्षा या शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां श्रेष्ठ होती हैं, उनसे ज्ञान मिलता है। इन्द्रियों से भी ज्यादा श्रेष्ठ मन होता है। पहले शरीर फिर इन्द्रियां, उसके बाद मन का बड़ा महत्त्व है। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म भी है। इन्द्रियां तो हमारे सामने दृष्टिगोचर भी होती है। मन भीतर में रहकर काम करने वाला है। मन से भी आगे बुद्धि का स्थान है। मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है क्योंकि बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है।

बुद्धि के लिए कहा गया है—**व्यवसायात्मिका बुद्धिः** यह करना, यह

नहीं करना आदि हम जो निर्णय करते हैं वह बुद्धि के द्वारा करते हैं। मन से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बुद्धि होती है। बुद्धि से भी आगे है काम। हम जैन विद्या के संदर्भ में विचार करें तो औदारिक शरीर स्थूल है, उससे सूक्ष्म है इन्द्रियां, उससे सूक्ष्म है तैजस शरीर और उससे भी ज्यादा सूक्ष्म है कार्मण शरीर। कार्मण शरीर में कर्म रहते हैं। काम, कषाय ये कार्मण शरीर में रहने वाले हैं। वे हमें स्पष्ट भले दिखाई न दें, पर उनके रहने का स्थान और गहरे में है। कई बार काम न भी उभरे पर भीतर में पड़ा रहता है। वह जब अपना प्रभाव दिखाता है तब आदमी का मन चकराता है, वृत्तियां तीव्र होती हैं और आदमी अपराध में चला जाता है। काम को नष्ट करना बड़ा कठिन होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।३२/१९।।

सब जीवों के और देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अंत पा जाता है।

सारा दुःख है, वह काम के द्वारा पैदा किया हुआ है यानी काम दुःख को पैदा करने वाला है। अनुगृद्धि या आसक्ति दुःख को पैदा करने वाली है। काम को गीताकार ने भी हमारा बड़ा अहित करने वाला तत्त्व माना है और उत्तराध्ययनकार ने भी दुःख का मूल बताया है। हमारी साधना का महत्त्वपूर्ण आयाम है कि हम कामना को कम करने का प्रयास करें, इच्छाओं को कम करने का प्रयास करें। ज्यों-ज्यों हमारी इच्छाएं कम हो जाएगी, त्यों-त्यों हम सुखी हो जाएंगे। जब तक कामना रहेगी तब तक दुःख रहेगा। आदमी अपने मन को समझाने का प्रयास करे कि मैं इतनी इच्छा क्यों करूं? मेरे भाग्य में कुछ है तो मुझे मिल जाएगा। अगर मेरे भाग्य में है ही नहीं तो सौ प्रयास कर लूं मिलना मुश्किल है। आखिर मुझे चाहिए ही क्या? खाने को रोटी चाहिए। शरीर को ढकने के लिए कपड़ा चाहिए, बीमार होने पर कुछ दवाई चाहिए, रहने को थोड़ा स्थान चाहिए। बस इतना मिल जाए फिर ज्यादा लम्बी चौड़ी कामनाएं करें ही क्यों? सुख से रहें। जितना संभव हो दूसरों का भला करें, कल्याण करें, परोपकार करें, अपना कल्याण करें। बाह्य कामना में न जाएं। अपने मन को खुद समझाएं कि भाई! तुम ज्यादा कामना में मत फंसो। यह कामना दुःख का कारण है। कामना कर्मों का बंध भी कराती है, जिससे जन्म

मरण की परम्परा चलती रहती है, इसलिए कामना को छोड़ने की चेष्टा करो। चिन्तन करने से, अभ्यास करने से हम धीरे-धीरे कामना को कम कर सकते हैं, कामना को मार सकते हैं और निष्काम योगी बन सकते है। निष्काम योगी बनना जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि होती है। हमारे कपड़ों में कांटे लग जाते हैं। एक-एक कांटे को देख-देखकर निकाल दें तो वस्त्र कांटों से मुक्त हो जाता है। ये कामना के कांटे हमारे चुभे हुए हैं। हम एक-एक कांटे को देख लें, कहां कहां कामना के कांटे लगे हुए हैं। उनको निकाल दें तो हम कामना मुक्त हो जाएंगे। कामना मुक्त होने के बाद हमें जो सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी, वह विशिष्ट होगी।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।

जो काम रूपी शत्रु है, जिसको खोज पाना मुश्किल है, उसको तुम खोजो और वहां से निकालो। काम वहां से हट जाएगा। फिर तुम्हें कितना बड़ा सुख, शान्ति का साम्राज्य प्राप्त हो जाएगा। जैन वाङ्मय में कहा गया—कामों का अतिक्रमण करो, दुःख अपने आप अतिक्रांत हो जाएगा। एक साधु के मन में यदि कामना रहती है, संकल्प विकल्प रहता है तो वह पग-पग पर साधु विषादग्रस्त हो जाता है क्योंकि मन में कामना है। जैन वाङ्मय और गीता में काम को शत्रु और दुःख का कारण माना है। हमें दुःखों से मुक्त होना है तो कामना का परित्याग करना होगा। तभी आदमी परम सुखों को प्राप्त हो सकेगा।

३०

पापकर्म मत करो

दार्शनिक परंपरा में आत्मवाद, कर्मवाद, लोकवाद और क्रियावाद प्रमुख सिद्धान्त रहे हैं। जैनदर्शन ने आत्मवाद और कर्मवाद को स्वीकार किया, लोकवाद भी उसे अभीष्ट है और क्रियावाद भी उसके द्वारा सम्मत है। आत्मा और कर्म को अन्य दर्शनों ने भी माना है। मूलतः दो प्रकार की विचारधाराएं रही हैं जिस पर दर्शन जगत अवस्थित है। एक आस्तिकवाद की विचारधारा और दूसरी नास्तिकवाद की विचारधारा। नास्तिकवाद भी एक दर्शन है। आस्तिकवादी विचारधारा के अनुसार मुख्यतः छह दर्शन हैं—बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, नैयायिक दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन और जैमिनीय दर्शन। चार्वाक् दर्शन एक नास्तिक दर्शन है, जिसका मंतव्य रहा है कि मरने के बाद कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वर्तमान जीवन में है।

धर्म की साधना का मुख्य आधार है—आस्तिकवाद और भोग की परम्परा का आधार है—नास्तिकवाद। आगे पीछे कुछ नहीं है, यह विचारधारा भोगवाद को पुष्ट करती है। पीछे भी था, आगे भी है, कृतकर्म का फल भोगना पड़ता है, यह विचारधारा त्यागवाद को पुष्ट करती है। इन दो विचारधाराओं के आधार पर हम त्याग और भोग को देख सकते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा—त्याग धर्म, भोग अधर्म। जितना जीवन में त्याग होता है वह धर्म है और जितना भोग होता है वह सारा अधर्म है। आस्तिकवाद आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानता है इसलिए पुनर्जन्मवाद भी उसके साथ जुड़ जाता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त काफी व्यापक रहा है। न केवल जैनदर्शन ने अपितु अन्यत्र भी अनेक विचारधाराओं ने पुनर्जन्म को मान्य किया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।४/६।।

हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे और मेरे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं। उन जन्मों को मैं जानता हूं, तुम नहीं जानते। यह सामान्य सा नियम है कि आदमी नया जन्म मिलने पर पिछला जन्म भूल जाता है। जिन्हें जातिस्मृति ज्ञान हो जाता है वे अपने पिछले जन्मों को साक्षात् देख लेते हैं। वे पिछले एक या अनेक जन्मों को जानने में सक्षम हो जाते हैं। केवलज्ञानी तो जानते ही हैं, सामान्य ज्ञानी भी कुछ निमित्त विशेष के कारण या सहज भाव से अपने पिछले जन्म की स्मृति कर लेते हैं। कुछ लोग साधना के द्वारा, अभ्यास के द्वारा पूर्वजन्म को जानने का प्रयास करते हैं। पूर्वजन्म को कोई जान सके या न जान सके, देख सके या न देख सके किन्तु आदमी को आत्मवाद व कर्मवाद के सिद्धान्त को मानकर चलना चाहिए। कर्मवाद का सिद्धान्त आत्मवाद से जुड़ा हुआ है। आदमी जैसा कर्म करता है उसका अच्छा या बुरा फल उसे ही भोगना पड़ता है।

कर्मवाद की बात जब सामने आती है तो आदमी चिंतन करता है कि मुझे जब कृतकर्म का फल भोगना है तो मैं क्यों पापकर्म करूं? कर्मवाद की अवधारणा जैन वाङ्मय में विस्तार से प्राप्त होती है। आगम वाङ्मय के अनेक ग्रंथ, जैसे—पण्णवणा, भगवती, ठाणं, विपाक सूत्र आदि में विस्तार से कर्मवाद की जानकारी प्राप्त होती है। कर्मवाद एक ऐसा विषय है जिसका मंथन किया जाए तो नवनीत प्राप्त हो सकता है। उत्तराध्ययन में भी कर्मवाद पर सुंदर व्याख्या की गई है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना या तपस्या के द्वारा क्षीण किए बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। आदमी जो कर्म करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है।

जैन साहित्य में पूर्वजन्म की कई घटनाएं प्राप्त होती हैं। आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने पिछले जन्म की बात बता देते हैं। एक आत्मा के अनन्त जन्म होते हैं। उन अनन्त जन्मों को बताना संभव नहीं है। पुनर्जन्म की बात बताकर आस्तिकवाद की विचारधारा को समर्थित किया गया है। कौन व्यक्ति कहां जाकर पैदा हो सकता है और कौन व्यक्ति कहां से आता है आदि अनेक नियमों का उल्लेख जैन वाङ्मय में प्राप्त होता है। एक आदमी वर्तमान में यहां है, उसका पुनर्जन्म होगा, पर वह कहां जाकर किस गति में पैदा होगा? इसका निर्णय जब कभी नहीं हो जाता। उसका भी नियम है। जीवनकाल के तीन भाग करें, दो भाग संपन्न हो उससे पहले अगले जन्म का निर्णय नहीं होता। दो भाग संपन्न होने पर अगले जन्म की निर्धारणा हो सकेगी। उस समय नहीं हुआ तो फिर तीन भाग करें, फिर तीन भाग करें। यों मृत्यु से पहले अगले जन्म का निर्धारण हो जाएगा। वह हुए बिना आदमी मरता भी नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण ने

अर्जुन से पूर्वजन्म की बात कही, वैसे ही भगवान महावीर मुनि मेघ से कहते हैं—अरे मेघ! तुम इतने कमजोर हो गए? अर्जुन भी कमजोर हो गया था और मुनि मेघ भी मनोबल से कमजोर हो गया था। अर्जुन के कमजोर होने पर श्रीकृष्ण ने संबल दिया और मुनि मेघ को कमजोर होने पर भगवान महावीर ने संबल दिया। भगवान महावीर ने कहा—मेघ! तुम्हारे में दुर्बलता आ गई? थोड़ा सा कष्ट आया और तुमने घर जाने की बात सोच ली। याद करो अपने पिछले जन्मों को। तुमने कितना कष्ट सहा है? किस प्रकार हाथी के जन्म में तुमने वेदना सही? प्रभु महावीर ने मुनि मेघ के पिछले जन्म बतलाए और उन्हें पुनः संयम में स्थिर किया।

गीता और उत्तराध्ययन के आत्मवाद आदि सिद्धान्तों को समझकर आदमी पापकर्मों से बचने का प्रयास करे और अपनी आत्मा को निर्मल रखने का अभ्यास करे, जिससे आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

३१

जनकल्याण करो

हमारी दुनिया में धर्म भी होता है और पाप भी होता है। हिंसा भी देखने को मिलती है और अहिंसा की भावना, अहिंसा की क्रिया और अहिंसा का आचरण भी देखने को मिलता है। समाज में अच्छाईयां देखने को मिलती हैं तो बुराईयों का जाल भी देखने को मिल जाता है। ऐसा समय तो कब आया होगा जब बिल्कुल भी हिंसा न रही हो, पूर्णतया अहिंसा व्याप्त हो गई हो। काल का अंतर हो सकता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय आरे में भरतक्षेत्र में ज्यादा पाप नहीं था। लोग बड़े भले होते थे। कोई ज्यादा आशा, लालसा नहीं थी। अपेक्षाओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती थी। उस जमाने में इतना अधर्म भी नहीं रहा होगा। वर्तमान में पंचम दुःषम आरा है इसलिए हिंसा, बुराईयां कुछ ज्यादा देखने को मिलती हैं। फिर भी यहां अहिंसा, धर्म और अच्छाईयां भी हैं। दुनिया की नियति है कि जब बुराईयां ज्यादा होती है तब बीच-बीच में महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता है। वे बुराईयों को कम करने का उपदेश देते हैं, प्रयास करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।४/७।।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।४/८।।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूं अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूं।

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पापकर्म करने वालों का विनाश

करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूं।

यह अवतारवाद की एक अवधारणा है। जैनदर्शन इस प्रकार की किसी अवधारणा को स्वीकार नहीं करता कि कोई परमात्मा अवतार लेता है, दुनिया में पैदा होता है। जैनदर्शन के अनुसार एक बार जो मोक्ष में चला जाता है वह वापस कभी संसार में नहीं आता। जब तक आत्मा मुक्त नहीं होती तब तक आत्मा का जन्म-मरण होता रहता है। कोई देव गति से मनुष्य गति में पैदा हो तो मान सकते हैं कि ऊपर से नीचे आ गया। उत्तारवाद फिर भी मान्य है लेकिन अवतारवाद वाली कोई बात नहीं है। एक आत्मा साधना करके मोक्ष में पैदा हो सकती है। साधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त होना जैनदर्शन द्वारा सम्मत है। गीता की इस बात को मैं इस रूप में कहना चाहूंगा कि दुनिया में अधर्म बढ़ता है तो बीच-बीच में धार्मिक पुरुष भी पैदा होते हैं, जो विशेष साधक होते हैं, अहिंसक होते हैं और अधर्म का आचरण करने वाली जनता को धर्मोपदेश देते हैं। इसको कोई अवतारवाद कह दे या महापुरुषों की उत्पत्ति कह दे। जहां तक महापुरुषों की उत्पत्ति की बात है तो जैन दर्शन भी मानता है कि बीच-बीच में महापुरुष पैदा होते हैं। जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। वे महापुरुष थे। उन्होंने अपने-अपने ढंग से तीर्थ का प्रवर्तन किया और लोगों को धर्मोपदेश दिया। तीर्थंकरों के अतिरिक्त और भी कितने-कितने आचार्य, धर्मगुरु पैदा हुए हैं, महापुरुष पैदा हुए हैं, जिन्होंने स्वयं साधना की और जनकल्याण का भी प्रयास किया।

अपराध के मुख्य तीन कारण हैं—अज्ञान, आवेश और अभाव। व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता है तो वह गलत काम कर लेता है। बच्चे को कुछ ज्ञान नहीं होता इसलिए किसी जानवर को देखकर उसे मारना शुरू कर देता है। वह हिंसा-अहिंसा को नहीं जानता है। अज्ञान के कारण आदमी हिंसा/अपराध में चला जाता है। संस्कृत साहित्य में अज्ञान को पाप माना गया, बड़ा दुःख माना गया। पञ्चसूत्रम् नामक ग्रन्थ में कहा गया—**अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योपि सर्वपापेभ्यः।** क्रोध, मान, माया आदि पाप हैं परन्तु अज्ञान उन सबसे ज्यादा खतरनाक कष्ट या दुःख की चीज है। क्योंकि अज्ञान के कारण आदमी की आंखों के आगे परदा आ जाता है। जैसे—आंखों के आगे कोई पट्टी बांध ले तो दिखना बंद हो जाता है। इसी तरह अज्ञान के उदय से विवेक और ज्ञानरूपी सूर्य के आगे काला बादल आ जाता है। आंखें बंद हो जाती हैं। आदमी को पता नहीं चलता कि क्या करना, क्या नहीं करना? किसमें लाभ, किसमें

हानि? जो जान नहीं पाता वह क्या धर्म करेगा और क्या अधर्म को छोड़ेगा? इसलिए अज्ञान को बड़ा कष्ट माना गया।

दूसरा कारण है—आवेश। कभी कोई ऐसा आवेश, आवेग आता है कि आदमी अपराध की ओर अग्रसर हो जाता है, अपराध करने लगता है। कितने लोग आवेश में आकर एक बार कुछ कर लेते हैं परन्तु बाद में उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। एक बार तो आवेश में आकर नहीं बोलने की बात आदमी बोल देता है और नहीं करने का काम कर लेता है। फिर आवेश शान्त होने पर सोचता है—काश! मैं अमुक बात नहीं कहता या अमुक कार्य नहीं करता तो अच्छा रहता।

तीसरा कारण है—अभाव। अभाव के कारण भी आदमी अपराध में चला जाता है। पैसा पास में नहीं होता है तो आदमी चोरी डकैती करने लगता है। हम लोग अहिंसा यात्रा कर रहे थे। एक संस्थान आया। अधिकारियों ने कहा—आप अंदर पधारिए। गुरुदेव प्रायः साधन में विराजमान रहते और मुझे इधर-उधर भेजते रहते। मैं उस संस्थान के अंदर गया। संस्थान में कुछ बच्चे थे। वहां के अधिकारी ने बताया—महात्माजी! ये अनाथ बच्चे हैं। हमने इनको हमारी संस्था में भर्ती किया है। हमने यहां भर्ती करके इनको आतंकवादी बनने से बचा लिया। उनका कथन था कि अगर इनको कोई आश्रय नहीं मिलता और कोई धन्धा नहीं मिलता तो ये अनाथ बच्चे, गरीब बच्चे आतंकवाद और हिंसा में प्रवृत्त हो जाते। इनको तो पैसा चाहिए और आतंकवाद में इन्हें पैसा मिल जाता। अभाव में आदमी का स्वभाव भी बिगड़ जाता है। अभाव होने पर आदमी गलत रास्ते पर, गलत तरीके को काम लेकर गलत कार्य करने लग जाता है।

गीता के अनुसार जब-जब किन्हीं कारणों से अपराध बढ़ जाते हैं तो महापुरुष पैदा होते हैं और वे अपराधों से प्रजा मुक्त हो, ऐसा प्रयास करते हैं। जहां तक सुरक्षा की बात है या दुर्जनों के नाश की बात है, सामान्यतया एक शास्ता या राजा होता है तो उसका भी यह काम होता है कि वह अपनी सीमा में अपनी शक्ति से प्रजा की रक्षा करे। राजा के तीन काम होते हैं—**सदवनमसदनुशासनमाश्रितभरणम्।** जो सज्जन लोग हैं, भले लोग हैं उनकी रक्षा करना। जो दुर्जन लोग हैं उन पर अनुशासन करना और जो अपने आश्रित हैं उनका भरण पोषण करना, भोजन आदि की व्यवस्था करना। महापुरुषों के संपर्क में आने से कितने-कितने असज्जन लोग, दुर्जन लोग अच्छे बन जाते हैं। भगवान महावीर के संपर्क से अर्जुन मालाकार, रोहिणेय चोर जैसे

व्यक्ति भी बदल गए। इस प्रकार कितने-कितने अपराधी लोगों को अपराध छोड़ने की प्रेरणा मिली। देशाटन करने से कितने लोगों को कुछ बताने का, समझाने का मौका मिलता है। कितनों में प्राण का संचार होता है। हमारे धर्मसंघ में आचार्य यात्रा करते हैं। उनकी एक बार की यात्रा भी लंबे समय के लिए संजीवनी के रूप में मानो प्राण का संचार कर देती है और अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। विकास का पथ भी प्रशस्त हो जाता है। सामान्य साधु-साध्वियां भी यात्राएं करते हैं। वे भी अपने ढंग से काम करते हैं परन्तु आचार्यों की यात्रा का अलग महत्त्व होता है। आखिर पद का और स्थान का भी महत्त्व होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसा यात्रा की। यात्रा में कितने लोग संपर्क में आए और कितने लोगों को अपराध मुक्त चेतना को जगाने का मौका मिला। गुरुदेव तुलसी ने सुदूर प्रान्तों की यात्राएं कीं। इन यात्राओं से लोगों को संपर्क में आने का मौका मिला और उन्हें समझाने का, धर्मोपदेश देने का मौका मिला। उनके प्रयत्नों से लोगों का उद्धार भी हुआ। यात्राओं में कितने-कितने लोग नशे से मुक्त होते हैं। नशे से जो समस्याएं पैदा होती हैं उनका निवारण होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कुछ वर्ष पहले दिल्ली से जयपुर पधार रहे थे। सन् २००५ का चातुर्मास दिल्ली था। जयपुर-दिल्ली के पथ में एक गांव आया। संभवतः उसका नाम था चंदवाजी। मैं मध्याह्न में समणियों को पढ़ा रहा था। एक ग्रामीण महिला आई। उसके बच्चे भी साथ थे। मैंने सोचा—गांव की बहन आई है। इसको थोड़ा उपदेश देना चाहिए। मैंने उससे कहा—भगवान का नाम लिया करो, जप किया करो।

महिला प्रबुद्ध थी।

वह बोली—बाबाजी! आपकी यह बात तो अच्छी है कि भगवान का नाम लेना चाहिए परन्तु मैं तो बहुत दुःखी हूं।

मैंने पूछा—तुमको किस बात का दुःख है?

वह बोली—आपको क्या दुःख बताऊं? खाने को रोटी नहीं मिलती, रहने को मकान नहीं है और हमारी नौकरी भी स्थायी नहीं है।

मैंने कहा—तुम्हारा पति कुछ काम धन्धा करता होगा। कुछ कमाई करता होगा?

महिला ने कहा—वो क्या काम धन्धा करता है। एक रुपया कमाता है और दस रुपए गंवाता है। वह तो शराबी है। मुश्किल से कुछ कमाई करता है

और जितना कमाता है उससे ज्यादा पैसा शराब में लगा देता है।

मैंने कहा—वह यहां आए तो मैं उसे समझाने का प्रयास करूंगा।

उस दिन तो वह मेरे पास नहीं आया। अगले दिन हम दूसरे गांव चले गए। दोपहर में मैं बैठा था। मेरे मन में आया कि कल हम पिछले गांव में थे, तब एक बहन मेरे पास आई थी, अपना दुखड़ा सुना रही थी परन्तु मैंने उसके दुःख को दूर करने के लिए क्या प्रयास किया? कुछ कार्यकर्ता हमारे साथ थे। मैंने उनको सारी बात बताई। वे लोग गए और उस बहन को, उसके पति व बच्चों को लेकर आ गए। मैंने बहन से यह भी पूछा कि इन बच्चों को कुछ खिलाती हो या नहीं? उस बहन ने कहा—भोजन होता है तब तो खिला देती हूं नहीं तो थप्पड़ मारकर और डांटकर सुला देती हूं। यह एक गरीब महिला की कहानी है कि वह कैसे जीवन चला रही है।

मैंने उसके पति से पूछा—तुम शराब पीते हो?

वह बोला—हां महाराज! शराब तो मैं पीता हूं।

मैंने कहा—तुम्हारे शराब पीने से घर में कितनी समस्या हो रही है? परिवार में कष्ट हो रहा है। मैंने समझाया तो उसने कहा—ठीक है, अब मैं कभी शराब नहीं पीऊंगा।

नशा भी समस्याओं को पैदा करने वाला होता है। ऐसी अनेक समस्याएं दुनिया में चलती हैं। जो महापुरुष होते हैं, संत पुरुष होते हैं अपने ढंग से अधर्म को कम करने का प्रयास करते हैं, पाप को नष्ट करने का प्रयास करते हैं और न जाने कितने-कितने लोगों को वे पाप से मुक्त कर देते हैं। उनको धर्म के रास्ते पर स्थापित कर देते हैं। जैन आगमों में जहां धर्म का उपदेश है, पाप को छोड़ने की बात है, वहां श्रीमद्भगवद्गीता में भी सज्जन लोगों की रक्षा करने के लिए, दुर्जनों का नाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए यदा कदा श्रीकृष्ण अवतार लेते हैं। महापुरुष परकल्याणकारी होते हैं। वे अपनी शक्ति का नियोजन दूसरों के कल्याण के लिए करते हैं और दुनिया में पाप को कुछ कम करने का प्रयास करते हैं।

३२

वीतराग बनो

मनुष्य जब तक वीतराग नहीं बन जाता है तब तक उसके भीतर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की वृत्तियां विद्यमान रहती हैं। अशुभ वृत्तियां अपना प्रभाव दिखाती हैं तो शुभ वृत्तियों का भी अपना प्रभाव होता है। इसे अध्यात्म-साधना में कषाय विजय की साधना और सामान्य भाषा में वृत्ति परिष्कार की साधना या अशुभ भावों पर विजय पाने की साधना कहा जा सकता है। हमारे भीतर क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, काम, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि अनेक वृत्तियां रहती हैं। उन वृत्तियों को परिमार्जित कर देना, अशुद्ध वृत्तियों को परास्त कर देना और समता भाव का विकास कर लेना अध्यात्म की साधना होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।४/१०।।

जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

परमात्मभाव को प्राप्त होने के लिए राग भाव को जीतना होगा, भय को जीतना होगा और क्रोध को जीतना होगा। राग, भय और क्रोध हमारे जीवन में यदा-कदा उभरते रहने वाले भाव हैं। कोई मनोज्ञ पदार्थ मिलता है तब आदमी को कितनी खुशी मिलती है। कोई प्रशंसा करता है तब भी खुशी होती है। इसका मतलब हमारे मन में राग भाव है। गीता के अनुसार राग भाव को जीतना होगा। अनुकूल व्यक्ति, अनुकूल परिस्थिति कुछ भी मिले उसमें खुशी न हो, समता रहे तो राग को जीता जा सकता है।

भय को जीतना होगा। कई लोग ज्यादा डरते हैं और कई लोग ज्यादा

निर्भीक होते हैं। आप कल्पना करें रात्रि में श्मशान में अकेले रहना हो तो कोई-कोई तो वहां साधना कर लेते हैं पर सबके लिए संभव नहीं है। छोटे बच्चों को तो ज्यादा अंधेरे में भी भय लगता है। कोई जानवर आ गया तो भी आदमी डर जाता है। यह भय की वृत्ति है। साधना करने वाले व्यक्ति को भय को जीतने का प्रयास करना चाहिए, अभय होना चाहिए। अहिंसा की दृष्टि से और सत्य की दृष्टि से अभय की साधना आवश्यक है। आदमी भयभीत होता है तो हिंसा में चला जाता है। कोई आदमी अमुक प्राणी से डरता है। उसे भय रहता है कि यह कहीं मुझे काट न ले। फलतः उस प्राणी को मारने की चेष्टा होगी। क्योंकि खुद के मन में भय है, आशंका है। एक युवक किसी लड़की को उठाकर ले गया, बलात्कार किया। फिर उसे भय लगा, अगर इसने मेरी बात बता दी तब क्या होगा? परिणामतः लड़की को मार दिया जाता है। इस डर से हिंसा की गई कि मुझे बदनामी न झेलनी पड़े या मैं अरेस्ट न हो जाऊं, बंदी न हो जाऊं। ऐसी कितनी घटनाएं अखबार में आती हैं। भय के कारण आदमी हिंसा भी करता है और झूठ भी बोलता है।

न्यायाधीश ने आरोपी से कहा—झूठ बोलने से नरक में जाना पड़ता है।

आरोपी बोला—जानता हूं किन्तु सच बोलने से जेल में जाना पड़ेगा।

सच बोलने से कठिनाई तो हो सकती है पर कुछ दिव्य पुरुष ऐसे होते हैं जो कठिनाई को मंजूर कर लेते हैं, झूठ बोलना मंजूर नहीं करते। भय भी एक कारण है झूठ बोलने का।

वीतरागता प्राप्त करने के लिए गुस्से को भी जीतना होगा। यह भी आदमी की कमजोरी है कि गुस्सा आ जाता है। कोई बात मन के प्रतिकूल होती है तो गुस्सा आ जाता है। जैसे शराब का नशा होता है, चाय का नशा होता है, वैसे गुस्से को भी एक प्रकार का नशा कहा गया है। वह आने के बाद आदमी कुछ भी बोल सकता है। तेज गुस्सा आने पर आदमी सुधबुध खोकर विवेक विकल होकर कुछ भी कर लेता है। परन्तु प्रयास करके मन को समझा कर गुस्से को कम करने का, शान्त करने का अभ्यास करना चाहिए। आदमी में शक्ति है। वह प्रयास करे, पुरुषार्थ करे तो सफलता भी मिल सकती है। पुरुषार्थ आदमी को अच्छे रूप में करना चाहिए। हमारा चिन्तन ठीक हो जाए तो गुस्से में अन्तर आ सकता है। चिन्तन ठीक हो जाए तो भय कम हो सकता है। चिन्तन ठीक हो जाए तो राग भाव कम हो सकता है।

किसी ने एक युवक की हत्या कर दी। मां ने कहा—बेटा! तुम्हारे जैसे वीर भाई के होते हुए तुम्हारे भाई को मार दिया। तुम अपने भाई के हत्यारे से

बदला लो। लड़का बोला—मां! मैं संकल्प करता हूं कि भाई के हत्यारे को खोजूंगा और तुम्हारे सामने उसका सिर धड़ से अलग करूंगा।

वह भाई के हत्यारे की खोज में चल पड़ा। बारह वर्षों तक खोजते-खोजते वह हत्यारा मिल गया। उसको पकड़कर मां के सामने लाया और बोला—मां! यह मेरे भाई का हन्ता है। अब मैं तुम्हारे सामने इसको मारूंगा। वह बेचारा डरने लगा। उसको और कुछ नहीं सूझा। उसने पास में पड़ा तिनका मुंह में लिया और बोला—मैं तुम्हारी काली गाय हूं।

मां बोली—बेटा, अब मारने की बात छोड़ दो। हर जगह गुस्से को सफल नहीं करना चाहिए। हम हिन्दू संस्कृति को मानने वाले लोग हैं। हम गाय को महत्त्व देते हैं। यह हमारी काली गाय बन गया। गाय को हिन्दू मारते नहीं हैं। इसको क्षमादान दे दो। भयंकर गुस्सा था भाई के हत्यारे के प्रति। पर मां ने सीख दी, उसने गुस्से को शांत किया और भाई के हन्ता को, जो काली गाय बन गया था, अभयदान दे दिया। चिन्तन बदलने से गुस्सा भी शांत हो सकता है।

राग, भय और क्रोध कैसे छोड़ें? इसका उपाय भी गीता में बताया गया कि तुम ज्ञान का अभ्यास करो, शास्त्रों को पढ़ो। ज्ञान से तुम्हारे विकार कम हो जाएंगे। साथ में तपस्या करो। तपस्या करने से भी विकार कम हो जाएंगे। गीता में दो उपाय बताए—ज्ञान और तपस्या के द्वारा पवित्र बन जाओ। राग, भय और क्रोध को छोड़ दो। उत्तराध्ययन में भी वीतरागता की बात आई है।

श्रीकृष्ण कहते हैं वे मेरे भाव को प्राप्त हो जाते हैं और उत्तराध्ययन के संदर्भ में वे परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

गीता में कहा—वीतराग बनो, भय छोड़ो, क्रोध छोड़ो, ज्ञान का अभ्यास करो, तपस्या करो, साधना करो। ये आत्मा के आस-पास की बातें हैं। सब अध्यात्म की बातें हैं। गीता का आधार आत्मा है, गीता के उपदेश आत्मवाद के इर्दगिर्द हैं। चिन्तन, मनन और अनुप्रेक्षा करने से हम वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। ज्ञान और तपस्या के द्वारा हम वीतराग भाव को प्राप्त हो सकते हैं।

३३

पुरुषार्थ करो

आदमी के मन में सफलता पाने की भावना रहती है। व्यापारी व्यापार में सफल होना चाहता है। विद्यार्थी परीक्षा में सफल होना चाहता है। कानूनी केस में फंसा हुआ व्यक्ति उससे मुक्त होना चाहता है। बीमार व्यक्ति दवा लेकर स्वस्थ होना चाहता है। इस प्रकार आदमी के मन में सफलता की भावना रहती है। सफलता पाने के लिए लोग मंदिरों में जाते हैं या अपने घर में आराधना करते हैं। कुछ लोग जप आदि करते हैं। आदमी सफलता पाने के लिए और विघ्न निवारण के लिए अनेक विधियों की आराधना, अनुपालना करता है। सामान्य आदमी के मन में जो कुछ कामना होती है उसको पूरा करने के लिए वह उस उपक्रम को काम में लेता है जिस उपक्रम से उसे अपनी कामना पूरी होने की संभावना लगती है। सफलता की दृष्टि से पुरुषार्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आदमी सम्यक् पुरुषार्थ न करे तो सफलता की प्राप्ति में कुछ संदेह हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में सफलता के संदर्भ में कहा गया—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।४/१२।।

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं, क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है।

अपने कार्यों में सफलता पाने के इच्छुक लोग देवी देवताओं की पूजा करते हैं। किन्तु जैन वाङ्मय में कहा गया कि **देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो** अर्थात् देवता उस आदमी की पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस संदर्भ में कहा गया—

देव दाणव गंधव्वा जक्ख रक्खस्स किन्नरा।
बंभयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करंति तं।।१६/१६।।

दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि विभिन्न प्रकार के देव हैं। ब्रह्मचारी साधक को ये देवता भी नमस्कार करते हैं।

एक ओर जहां मनुष्य देवों की आराधना करता है तो दूसरी ओर देवता त्यागी, तपस्वी, महापुण्यवान मनुष्यों को प्रणाम करते हैं। उनका महोत्सव भी मनाते हैं। जो व्यक्ति उद्योगी होता है, पुरुषार्थी होता है, उसके पास लक्ष्मी आती है। जो भाग्य को ही सब कुछ मानकर चलता है और पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करता है, वह आदमी असफल है। कवि ने कहा कि तुम भाग्य की बात छोड़ो, पौरुष करो, पराक्रम करो और पराक्रम करने के बाद कदाचित् सफलता न मिले तो तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुमने पुरुषार्थ कर लिया। तुम्हारा काम हो गया। पुरुषार्थ में कई बार निराशा भी आ जाती है। एक बार काम किया, सफलता नहीं मिली तो आदमी काम छोड़ देता है। संस्कृत के महान विद्वान शासन गौरव मुनिश्री बुद्धमलजी स्वामी की संस्कृत भाषा की एक किताब है—**उत्तिष्ठत जागृत।** उस किताब का एक पाठ है—**एकवारं पुनः प्रहरस्व** अर्थात् एक बार फिर प्रहार करो। युवक! तुम निराश मत बनो। तुम्हें सफलता नहीं मिली तो निराशा की जरूरत नहीं। एक बार फिर प्रहार करके देखो। क्या पता इस बार तुम्हें सफलता मिल जाए। हमारे जीवन में जहां अहंकार रहेगा वह हमारी उन्नति में बाधा पैदा कर देगा। आलस्य है तो पुरुषार्थ का अभाव होगा, पुरुषार्थ का अभाव होगा तो सफलता में बाधा पैदा होगी। इसलिए आदमी को आलस्य और अहंकार से बचना चाहिए। आदमी को विनम्र और पुरुषार्थी होना चाहिए। हम दूसरों के सामने अपना बड़प्पन दिखाने का प्रयास न करें। हम विनम्र रहें। आदमी काम न करने से बड़ा नहीं होता बल्कि अच्छा काम करने से और अपने गुणों से बड़ा होता है। अहंकार आदमी को पतन की ओर ले जाने वाला होता है। स्वावलंबन जीवन की विशेषता है। परवशता दुःख है और स्ववशता सुख है। जब आदमी काम न कर सके और दूसरों से सेवा लेनी पड़े तो वह कोई गलत बात नहीं है। परन्तु आदमी काम कर सकता है, फिर भी अहंकार के कारण अपना काम न करे, यह जीवन के लिए, आत्मा के लिए अच्छी बात नहीं है। उत्तराध्ययन में तो यहां तक कहा गया—**सहाय-पचक्खाणेण** अर्थात् सहायता लेने का प्रत्ख्याख्यान करना। यह भी एक साधना मानी गई कि मैं दूसरों से सेवा नहीं लूंगा। उत्तराध्ययन में जो सहायता के प्रत्याख्यान की बात आती है वह स्वावलम्बिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण

है। प्रायोगपगमन अनशन होता है। उसमें संथारा करने वाला व्यक्ति बिल्कुल शान्त भाव से लेटा रहता है। दूसरों से कोई सेवा नहीं लेता। वह आत्मस्थ, अनशनस्थ रहता है, यह उसका विधान है। अतः स्वावलंबन का अपना महत्त्व होता है।

महामना गुरुदेव तुलसी जैन विश्व भारती, लाडनूं में विराजमान थे। मैं पश्चिम रात्रि में वंदना करने गया। गुरुदेव ने मुझे एक सीख दी कि जीवन में श्रम और स्वावलम्बन रहना चाहिए। एक बार तो गुरुदेव ने यहां तक कहा कि हम लोग तो अब प्रोटोकॉल में इतने बंध गए हैं कि अपना काम भी स्वयं नहीं कर सकते; दूसरे ही हमारा काम करते हैं परन्तु तुम लोग स्वावलम्बन और श्रम का अभ्यास रखो। उत्तराध्ययन और भगवद्गीता में कहा गया कि पुरुषार्थ से आदमी को सिद्धि मिलती है। इसलिए पवित्र पराक्रम, पवित्र पुरुषार्थ की आराधना करते रहें। अच्छा पुरुषार्थ सिद्धि प्रदान करने वाला बन जाता है।

३४

पंडित बनो

पंडित शब्द बड़ा गरिमापूर्ण है। प्राचीन साहित्य में यह शब्द अनेक संदर्भों में प्रयुक्त किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में विद्वान शब्द के पर्यायावाची शब्दों में पंडित शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए जो संस्कृत भाषा में विद्वान होते हैं उन्हें पंडितजी कहा जाता है। जो ज्योतिष के जानकार होते हैं, मुहूर्त्त आदि बताते हैं, कुंडली आदि देखते हैं वे पंडितजी कहलाते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार विचार करें तो पंडित शब्द की व्युत्पत्ति बनती है—पंडा संजाता अस्य स पंडितः अर्थात् जिसमें पंडा पैदा हो गई वह पंडित है। पंडित शब्द का एक अन्य अर्थ भी किया गया—जिसमें अहिंसा और प्रेम पैदा हो गया वह पंडित है।

राजस्थानी भाषा का प्रसिद्ध दोहा है—

पढ़-पढ़ पोथा जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

पुस्तकों को अनेक लोगों ने पढ़ लिया पर पंडित न बन सके। जिसने ज्यादा पुस्तकें नहीं पढ़ी परन्तु 'प्रेम' इन ढाई अक्षरों को पढ़ लिया, जीवन में उतार लिया वह व्यक्ति पंडित बन जाता है। जैन वाङ्मय में तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है—बाल, पंडित और बाल-पंडित। जिस व्यक्ति में संयम नहीं है, विरक्ति नहीं है, त्याग नहीं है उस व्यक्ति को बाल कहा गया। तत्त्वविद्या की भाषा में चौथे गुणस्थान तक के जो जीव हैं वे सभी बाल संज्ञा से अभिहित किए गए हैं। जिसमें विरक्ति है, संयम है और सर्व सावद्य योग का त्याग है, वह पंडित है। इसका तात्पर्यार्थ है कि साधु ज्यादा विद्वान नहीं है तो भी पंडित है। तीसरा शब्द है—बाल-पंडित। जिसमें व्रत भी है, अव्रत भी है उस पंचम गुणस्थानधारी व्यक्ति को बाल-पंडित संज्ञा से अभिहित किया गया

है। जैन वाङ्मय में पंडित शब्द संयम के साथ जुड़ा हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी पंडित शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। वहां जो पंडित शब्द की परिभाषा दी गई है वह जैन वाङ्मय से काफी मिलती जुलती है। गीता में कहा गया—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।४/१९।।

जिसके संपूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं।

आदमी प्रवृत्ति करता है। शरीरधारी को प्रायः प्रवृत्ति करनी होती है। जिसकी प्रवृत्ति लालसा से और कामना के संकल्पों से मुक्त होती है वह कामसंकल्पवर्जित समारम्भ वाली प्रवृत्ति होती है। हम लोग व्याख्यान देते हैं। इसमें कोई कामना नहीं है। न धन्यवाद की, न प्रशंसा की और न यशप्राप्ति की। हम निर्जरा के लिए और श्रोताओं पर एक आध्यात्मिक उपकार करने के लिए व्याख्यान देते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र की संबंधकारिका में कहा गया कि प्रवचन देने वाले को अवश्य लाभ होता है। श्रोता का ध्यान सुनने में नहीं है परन्तु वक्ता यदि उपकार की भावना से, अनुग्रह की भावना से वक्तव्य दे रहा है तो वक्ता को निर्जरा के साथ पुण्य का लाभ अवश्य प्राप्त होगा। यद्यपि पुण्य का लाभ गौण है, मुख्य तो निर्जरा है, जो आत्मा का कल्याण करने वाली है। निर्जरा का लाभ वक्ता को अवश्य मिलता है। वक्ता में मात्र निर्जरा की भावना और उपकार की भावना है तो उसकी वह प्रवृत्ति कामसंकल्पवर्जित मानी जाती है। आदमी किसी की सेवा करता है। यदि सेवा में भी निष्काम भावना, निर्जरा की भावना, कर्त्तव्य निर्वाह की भावना है तथा कोई कामना नहीं है तो वह कामसंकल्पवर्जित शुद्ध प्रवृत्ति है।

मोह कर्म को काटने वाला अथवा घाती कर्मों को नष्ट करने वाला व्यक्ति विद्वानों की दृष्टि में पंडित है। हम जैन वाङ्मय की भाषा में देखें तो जिसमें त्याग, संयम है वह पंडित है। पंडित बनने के लिए कामना को छोड़ने की अपेक्षा होती है और कामना को छोड़ने के लिए अभ्यास भी करना होता है। गृहस्थ के मन में भी कामना रहती है और कभी-कभी साधु संन्यासी के मन में भी छद्मस्थता के कारण कामनाएं रह जाती हैं परन्तु साधक का लक्ष्य होना चाहिए कि मैं कामना से मुक्त बनूं, निष्काम बनूं। यदि कामना है तो वह भी पवित्र हो। निर्जरा की कामना, विशुद्ध सेवा करने की कामना, ज्ञानाराधना

की कामना, दर्शनाराधना की कामना, चारित्राराधना की कामना हो। भौतिक कामनाएं मन में न रहें। इस प्रकार का चिन्तन करने से आदमी कामना के जंजाल से मुक्त हो सकता है। पवित्र कामनाओं का अभ्यास तथा भौतिक कामनाओं से मुक्ति की अभिलाषा साधना का महत्त्वपूर्ण मार्ग है। अनुप्रेक्षा और चिन्तन साधना में बहुत उपयोगी है। हम आत्मदर्शन करें और संकल्प करें कि हमें कामनाओं को कम करना है। हर सामान्य आदमी के भीतर कामना होती है। जो उसे छोड़ता है, संकल्पों को छोड़ता है वह व्यक्ति पंडित कहलाने का अधिकारी हो जाता है। कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध आदि आवेग भी आ जाता है। आक्रोश को छोड़ना भी एक प्रकार से वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ना है। कोई भी बात यदि तरीके से कह दी जाए तो गुस्से के बिना भी काम हो जाता है।

बादशाह अकबर और बीरबल बैठे थे। बीरबल के साथ बादशाह विनोद भी कर लेते। बादशाह ने कहा—बीरबल! कल रात को मैंने एक सपना देखा।

बीरबल—जहांपनाह! आपने सपने में क्या देखा?

बादशाह—मैंने देखा कि हम दोनों सवेरे घूमने के लिए निकले। थोड़ा अंधेरा था। हम दोनों बातों में मस्त थे। एक गली आई। उस गली में दो गड्ढे थे। एक गड्ढा कीचड़ से भरा था और दूसरा अमृत से भरा था। अंधेरे के कारण और बातों में मशगूल होने के कारण हम दोनों गड्ढों में गिर गए। तुम तो कीचड़ वाले गड्ढे में गिरे और मैं अमृत वाले गड्ढे में गिरा। यह कहकर बादशाह ने बीरबल की हल्की लगाने की चेष्टा की।

बादशाह की बात सुनकर बीरबल ने गुस्सा नहीं किया। क्योंकि आदमी छोटों पर तो गुस्सा कर सकता है पर बड़ों के सामने गुस्सा करना कठिन होता है। बीरबल समझदार भी था इसलिए गुस्सा नहीं किया।

बीरबल ने कहा—जहांपनाह! आपने बिल्कुल ठीक बताया है। संयोग की बात, मैंने भी कल रात को यही सपना देखा। यह हमारे तादात्म्य का एक प्रमाण है कि जो सपना आपने देखा वही सपना मैंने देखा परन्तु जहांपनाह! लगता है आपकी नींद जल्दी टूट गई और सपना अधूरा रह गया। मैंने पूरा सपना देखा।

बादशाह ने पूछा—अच्छा! तुमने आगे क्या देखा? जब बादशाह सुनने के लिए उत्सुक हो गया तब बीरबल बोला—मैंने आगे देखा कि हम दोनों जैसे-तैसे चेष्टा करके उन गड्ढों से बाहर निकल गए। मैं तो कीचड़ से लथपथ था और

आप अमृत से सने हुए थे। हम दोनों बड़े प्रेम से गले मिले। आप मुझे चाटने लगे और मैं आपको चाटने लगा।

हमारे जीवन में कभी-कभी कड़ी बात कहने का भी अवसर आता है। बात का स्पष्टीकरण करने का अवसर भी आता है तब हम बड़े स्नेह भाव से ऐसी बात कह दें कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। हमारा काम भी हो जाए और हमें गुस्सा भी न करना पड़े। बुद्धिमान लोगों की बुद्धिमत्ता का एक प्रमाण यही है कि वे गुस्सा नहीं करें और कहने की बात मौके पर कह दें।

हमारे भीतर ज्ञान की दृष्टि से भी पांडित्य का विकास हो। उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि साधना की दृष्टि से, संयम की दृष्टि से, वृत्ति की दृष्टि से भी हमारे भीतर पांडित्य का विकास होना चाहिए। ज्ञान में मन लगाना, ज्ञान में समय लगाना, ज्ञान में श्रम लगाना भी एक तपस्या है। जो हमारे चित्त को मैत्री और अहिंसा की भावना से सुवासित कर दे वह ज्ञान है। गीता में जिस ज्ञान की बात आई है वह भी आत्मविद्या के संदर्भ में है, अध्यात्म विद्या के संदर्भ में है। आध्यात्मिक ज्ञान हमारे कर्मों को जला डालने में सफल हो सकता है। कर्मों में विशेषतः मोहनीय कर्म से युद्ध में ज्ञान अग्न्यास्त्र की भांति कारगर है। विद्यालयों में हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, गणित आदि का ज्ञान कराया जाता है। वह लौकिक ज्ञान है। आदमी के लिए लौकिक विद्या की भी उपयोगिता है तो अलौकिक विद्या या अध्यात्म विद्या भी आवश्यक है। साधना के लिए और जीवन-यापन के लिए भी अलौकिक और अध्यात्म विद्या का ज्ञान अपेक्षित होता है। जो आदमी अज्ञान से आवृत चेतना वाला है वह अभागा है। जिसकी चेतना में ज्ञान का आवरण काफी कम हो गया या ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो गया वह आदमी सौभागी होता है। दो मार्ग हैं—मोह का मार्ग और मोक्ष का मार्ग। दोनों बिल्कुल विपरीत हैं। मोह का मार्ग दुःखों में ले जाने वाला है और मोक्ष का मार्ग परमसुख दिलाने वाला होता है।

मोह सघन न हो जाए इसलिए मोह में छेद करने का प्रयास हो। वह छेद करने का प्रयास है—धर्म की साधना, अध्यात्म की साधना और पांडित्य को उजागर करने की साधना। श्रीमद्भगवद्गीता तथा जैन वाङ्मय में पंडित शब्द का जो आख्यान किया गया वह मोह को कम करने की साधना का निदर्शन है। विरति, कामसंकल्पवर्जित अवस्था पाप कर्मों को नष्ट करने का मार्ग है। यही पांडित्य का सम्यक् अवबोध है।

३५

बंधनमुक्त बनो

अध्यात्म के क्षेत्र में बंध और मोक्ष दो तत्त्व बताए गए हैं। प्राणी बंध में पड़ा हुआ है और उसे मोक्ष प्राप्त करना है। अध्यात्म की सारी बात इतने में समाहित हो जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।४/२२।।

जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो गया है, ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे बंधता नहीं है।

बंधन के संदर्भ में गीताकार ने बताया कि कुछ आदमी इतने आध्यात्मिक होते हैं कि वे संसार में रहते हुए भी नए बंधनों से काफी मुक्त रहते हैं। पहली बात बताई—जो संतोषी होता है, अनुचित अनपेक्षित आकांक्षा को नहीं पालता, वह संसार में रहते हुए भी बंधन से बहुत बच सकता है। साधुओं के लिए कहा गया—जहां जाओ, वहां तुम्हें जो मिले उसमें संतोष धारण करो। दूसरी चीजों को प्राप्त करने की आकांक्षा, कामना मन में मत रखो। दूसरी बात बताई—जो द्वन्द्व से अतीत है, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में नहीं उलझता, उनमें सम रहता है वह व्यक्ति बंधनों से मुक्त रह सकता है। तीसरी बात बताई—जिसमें ईर्ष्या नहीं है वह बंधनमुक्ति का साधक है। अमुक व्यक्ति को जो मिला है उतना मुझे मिले यह ईर्ष्या का भाव है। यह तो फिर भी इतना बुरा नहीं हैं परन्तु दूसरे को इतना क्यों मिल गया? उसका नुकसान होना चाहिए, उसको नहीं मिलना चाहिए, यह ईर्ष्या अच्छी नहीं होती है। गांव में एक तीन मंजिला मकान था। मकान मालिक बड़ा गर्व करता कि एकमात्र मैं ही ऐसा

किसान हूं जिसका मकान तीन मंजिला है। संयोग की बात, एक दूसरा किसान उससे ज्यादा धनवान हो गया। उसने उसके सामने पांच मंजिला मकान बनवा लिया। अब वह तीन मंजिला मकान वाला आदमी बड़ा दुःखी हुआ। उसने सोचा—अरे! कहां से यह भाग फूटा आ गया? मेरे सामने पांच मंजिला मकान बना लिया। उसे अपने तीन मंजिले मकान का सुख नहीं रहा बल्कि पड़ौसी के पांच मंजिले मकान का दुःख हो गया। यह ईर्ष्या की भावना है। गीताकार ने कहा—जिसमें मात्सर्य या ईर्ष्या नहीं है वह व्यक्ति बंधन से मुक्त रह सकता है।

पड़ौसी को किस तरह रहना चाहिए? यह भी एक कला है। सच्चा पड़ौसी वह है जो मौके पर काम आए। यदि पड़ौसी के साथ घरेलू रिश्ते हो जाएं तो वह पड़ौस बड़ा आनन्द दायक होता है। कभी उस घर में चले गए, कभी इस घर में आ गए, मौके पर एक दूसरे का सहयोग कर दिया, ऐसा पड़ौस अच्छा होता है। पड़ौस के आदमी मिलकर बैठें, कुछ बात करें तो एक आनंद का जीवन बनता है। यदि पड़ौसी एक दूसरे से ईर्ष्या करे तो वह आनंद खत्म हो जाता है और मन मलिन हो जाता है। चौथी बात बताई कि सिद्धि और असिद्धि में समता रहे। आदमी काम करता है। उसमें कभी सफलता तो कभी असफलता मिलती है। दोनों परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बना रहे। कभी व्यापार में खूब नफा हो गया तो सिद्धि हो गई, सफलता मिल गई और कभी व्यापार में घाटा हो गया तो असिद्धि हो गई। जब सिद्धि हुई तब व्यक्ति खुश हो गया। जब असिद्धि हुई तब आदमी मुरझा गया। इसका मतलब संतुलन नहीं रहा। लाभ हुआ तो भी ज्यादा खुशी नहीं और नुकसान हुआ तो भी ज्यादा दुःख नहीं। सिद्धि और असिद्धि में समतावान व्यक्ति बंधन से मुक्त रह सकता है। जिसमें ये चार बातें होती हैं वह व्यक्ति बंधन से मुक्त रह सकता है।

गीताकार ने कहा कि बंधन है तो मुक्ति भी है। तुम बंधनों से बचने का उपाय करो, साथ में तपस्या करो, साधना करो। इस प्रकार पहले के कर्म टूटेंगे, नए कर्म नहीं बंधेंगे तो आत्मा की मुक्ति हो जाएगी। इस प्रकार की बातें जैन आगम उत्तराध्ययन में भी मिलती है। उत्तराध्ययन में कहा गया है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।।१९/९०।।

लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान—इन सबमें समता रखो। समता धर्म है। राग-द्वेष मुक्त रहो। प्रियता-अप्रियता के भावों से मुक्त व्यक्ति को आनन्द प्राप्त होता है। आत्मस्थ रहने में जो

आनंद है वह आनंद विशिष्ट होता है। हमें वर्तमान को देखना चाहिए। वर्तमान से भी ज्यादा भविष्य को देखना चाहिए। हमारी अगली गति कहां होगी? क्योंकि काल का कोई भरोसा नहीं है। कब क्या हो जाए, कुछ पता नहीं है। आदमी अभी है पता नहीं कब काल कवलित हो जाए। इसलिए अगली गति के बारे में सोचना चाहिए कि मेरा वर्तमान जीवन अच्छा होगा, धर्ममय होगा, तपस्या साधना से युक्त होगा तब अगली गति अच्छी हो सकेगी। यदि आदमी वर्तमान में साधना नहीं करता, धर्म में मन नहीं लगाता, पाप ज्यादा करता है तो उसकी अगली गति अधोगति हो सकती है। हमारी आत्मा पापमुक्त रह सके, इस बारे में भी आदमी को सोचना चाहिए। जीवन अच्छा बने, ऐसा प्रयास करना चाहिए। अच्छे जीवन का मतलब है—नशामुक्त जीवन, लड़ाई-झगड़ा मुक्त जीवन, बेईमानी मुक्त जीवन। जीवन में ईमानदारी, अहिंसा, संयम हो और साथ में कुछ जप आदि का प्रयोग करते रहें तो मेरा विश्वास है कि अगली गति भी अच्छी हो सकेगी।

३६

गतसंग बनो

आदमी दो प्रकार के कर्म करता है—पुण्यकर्म और पापकर्म। वह पापकर्मों के बंधन से बचने का प्रयास करे, यह सबसे बड़ी जागरूकता है। पापकर्म विभिन्न रूपों में बंध जाते हैं। हिंसा, चोरी आदि के द्वारा पापकर्मों का बंध होता है। इनसे जो बचने का प्रयास करता है, तपस्या, साधना करता है वह कर्मों के बंधन से मुक्त रह सकता है और कभी सर्वथा मुक्त भी हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।४/२३।।

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है—ऐसा केवल यज्ञ-सम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।

जिसका संग चला गया, आसक्ति चली गई, वह व्यक्ति कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है। आसक्ति से मुक्त होना आसान नहीं है। चित्त आसक्ति से आप्लावित रहता है। आदमी के मन के कौनसे कौने में आसक्ति है? उसको खोजा जाए। उदाहरणार्थ कभी आतंकवादी किसी इमारत में घुस जाते हैं तो सेना के कमांडो आदि उनको खोजते हैं। जहां कहीं कोई आतंकी छिपा होता है उसे खोज कर खदेड़ने का, निकालने का प्रयास करते हैं और बिल्डिंग को आतंकियों से मुक्त करा लेते हैं। हमारी चित्त की जो बिल्डिंग है, हम उसमें खोजें कि आसक्ति का कौनसा आतंकी वहां छिपा हुआ है। उसको निकालने की चेष्टा करें। आदमी की भोजन में आसक्ति हो जाती है, पदार्थों में आसक्ति हो जाती है, शब्दों में आसक्ति हो जाती है, रूप में आसक्ति हो

जाती है, भोगों में आसक्ति होती है। आसक्ति अनेक पदार्थों और व्यक्तियों के प्रति हो सकती है। कई लोगों के प्रति व्यक्ति का प्रीतिभाव होता है, मोहभाव होता है उसको कम करने का प्रयास करें और कम करते-करते जो आदमी आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हो जाता है वह व्यक्ति गतसंग बन जाता है। गीताकार ने इस श्लोक में दूसरा शब्द दिया—मुक्तस्य। मुक्त दो प्रकार के होते हैं—देहमुक्त और जीवनमुक्त। देहमुक्त होने से तात्पर्य है कि आत्मा सदा के लिए मोक्ष में अवस्थित हो जाती है। फिर कभी देह धारण नहीं करती। जीवनमुक्त यानी जिन्दा रहते हुए, देह में रहते हुए भी मुक्त होना। अतीत की स्मृतियां नहीं, चिन्ता नहीं, संकल्प-विकल्प नहीं, भविष्य की कोई चिन्ता नहीं, वर्तमान में जो कुछ प्राप्त है उसमें मध्यस्थता है, ऐसा व्यक्ति जीवनमुक्त कहलाता है। वह जिन्दा होते हुए भी मुक्त है। ऐसी ही बात आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में कही है कि जो आशा, लालसा से मुक्त हो गए हैं, विकारों से मुक्त हो गए हैं और मद और मदन यानी अहंकार और कामवासना से मुक्त हो गए हैं, ऐसे व्यक्तियों का तो यहीं इसी देह में मोक्ष है।

पूर्णतया निस्संग हो जाना बड़ी बात है। ऐसा न हो सके तो प्रयास करें कि आसक्ति कम हो जाए। ज्यों-ज्यों आसक्ति कम होगी, वैसे-वैसे हम भीतर प्रवेश करेंगे। इसी तरह जैसे-जैसे भीतर प्रवेश करेंगे, हमारी आसक्ति भी कम हो जाएगी। आसक्ति कम होती है तो आदमी का चरित्र भी निर्मल बन जाता है। चरित्र को विकृत करने के लिए मोह जिम्मेदार है। आदमी का चरित्र निर्मल बने, उसके लिए मोह को कम करना आवश्यक होता है। गृहस्थ के सामने पैसे कमाने का लक्ष्य रहता है। पैसा गार्हस्थ्य में एक तरह से अनिवार्य भी होता है। गार्हस्थ्य में है और पैसा पास में नहीं है तो प्रतिष्ठा भी कम होती है। अतः गृहस्थ को पैसा चाहिए परन्तु पैसा कमाने के लिए वह कभी-कभी गलत तरीकों को काम में लेता है। अपराध कर बैठता है। आदमी ध्यान दे कि अपराध किसलिए हो रहे हैं? अर्थ के लिए या सत्ता पाने के लिए या सैक्स के लिए अपराध किए जाते हैं। ये तीन अपराध के मुख्य स्थान हैं। इन सबके मूल में मोह और आसक्ति है। गुस्सा भी मोह का परिणाम है। अहंकार भी मोह का ही परिणाम है। माया, छलना आदि मोह के ही विकार हैं। ये मोह रूपी जड़ से निकली हुई शाखा प्रशाखाएं हैं। मोह या आसक्ति को वश में कर लिया तो कितने-कितने अपराधों से, पापों से अपने आपको बचाया जा सकता है।

गीताकार ने तीसरी बात बताई—जिसकी चेतना ज्ञान में लीन हो जाती है वह व्यक्ति कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है। ज्ञान का अर्जन, उसका

स्वाध्याय, पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, इन सबमें जो लगा रहता है, वह पापकर्मों से बच सकता है। जिसकी चेतना ज्ञान में नहीं है, साधना में नहीं है, उस पर मोह बार-बार हावी होता रहता है और आत्मा को भी बंधन में डालता रहता है। इसलिए गीताकार ने कहा कि कर्मों के बंधन से बचना है तो ज्ञान में लीन हो जाओ।

विद्यार्थी विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। वे ज्ञान की आराधना करते हैं। वह लौकिक ज्ञान है। उसकी भी आवश्यकता है परन्तु जिसकी चेतना अलौकिक ज्ञान में स्थित हो जाती है वह व्यक्ति पाप कर्मों के बंधन से बच सकता है। अलौकिक ज्ञान वह है जिसके मनन से आदमी राग से विराग की ओर बढ़े, जो हमें कल्याण की ओर अग्रसर कर दे और जिसके द्वारा हमारी चेतना मैत्री से सुवासित हो जाए। गीता में भी यही कहा गया कि आध्यात्मिक ज्ञान में जिसकी चेतना अवस्थित हो जाती है वह व्यक्ति पापकर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है। उत्तराध्ययन में भी अनासक्ति की प्रेरणा मिलती है। आदमी यह ध्यान दे कि मेरी चेतना गतसंग कितनी बनी, आसक्ति मुक्त कितनी बनी, जीवनमुक्त बनी या नहीं बनी और मेरी चेतना ज्ञान में अवस्थित है या नहीं? अगर ये चीजें जीवन में हैं तो फिर आदमी पापकर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है।

३७

ऐसे ज्ञान पाओ

आदमी के जीवन में ज्ञान का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। ज्ञान के बिना आदमी जड़ जैसा हो जाता है। चाहे अध्यात्म विद्या से संबद्ध हो, चाहे लौकिक विद्या से संबद्ध हो या चाहे व्यावहारिक ज्ञान हो। ज्ञान है तो आदमी में जीवंतता है और ज्ञान का अभाव है तो जिन्दा आदमी भी मृत जैसा हो जाता है। जैसा कि कहा भी गया है—जिस आदमी के जीवन में अर्थ, काम और धर्म तीनों का योग नहीं होता है वह व्यक्ति श्वास लेते हुए भी मुर्दा है। जैसे लुहार की धोंकनी फूलती है, सिकुड़ती है पर इतने मात्र से उसे सप्राण नहीं कहा जा सकता। इसी तरह श्वास के कारण आदमी का पेट फूलता है, सिकुड़ता है, इतने मात्र से उसे जिन्दा क्यों कहा जाए? इस बात को मैं यों कहना चाहूंगा कि जिस आदमी का जीवन ज्ञान से शून्य है, विद्या से शून्य है, विवेक से शून्य है वह व्यक्ति श्वास लेते हुए भी मुर्दा होता है।

ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न भी किया जाता है और ज्ञान प्रदान करने की व्यवस्था भी की जाती है। मैंने पदयात्रा करते हुए देखा कि कितने-कितने विद्या संस्थान बने हुए हैं और बनते जा रहे हैं। प्राथमिक पाठशालाएं हैं तो विश्व-विद्यालय भी बने हुए हैं, आई. आई. टी. के संस्थान बने हुए हैं। मैंने यह भी अनुभव किया कि सरकार भी शिक्षा के प्रति जागरूक है, शिक्षा के लिए सहूलियत दे रही है। महिला शिक्षा को भी महत्त्व दिया जा रहा है। अध्यात्म के आचार्य, गुरु आदि भी शिक्षा को महत्त्व देते हैं। वे आध्यात्मिक विद्या प्रदान करते हैं।

ज्ञान प्राप्ति किस तरह करनी चाहिए? इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।४/३४।।

तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर, उनको प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।

गीताकार ने विद्यार्थी या शिक्षार्थी के लिए मार्गदर्शन दिया कि तुम्हें गुरु से ज्ञान लेना है तो तीन बातों पर ध्यान दो। पहली बात बताई कि गुरु को प्रणाम करो। विद्यार्थी का कर्त्तव्य होता है कि विद्यार्जन प्रारंभ करने से पहले गुरु को प्रणाम करे। गुरु को वंदन करे, नमस्कार करे। सिर से गुरु के चरण का स्पर्श करे। कदाचित् चरण-स्पर्श संभव न हो तो मस्तक को जमीन तक ले जाए, प्रणिपात करे। भारतीय संस्कृति में बड़ों को प्रणाम करने की प्रथा रही है। प्राचीन काल में अध्यापक या गुरु रास्ते में मिल जाते तो विद्यार्थी उनके पैरों को छूते। वर्तमान स्थिति में थोड़ा अन्तर आ गया। फिर भी प्रणाम का महत्त्व आध्यात्मिक परम्परा में भी है और लौकिक परंपरा में भी है। गीताकार ने दूसरी बात बताई कि प्रश्न करो, जिज्ञासा करो। गुरु के सामने जिज्ञासा करनी चाहिए। जिज्ञासा ज्ञान को पैदा करने वाली होती है। जिसमें जिज्ञासा नहीं होती है, उसका ज्ञान विकसित नहीं होता है। जिज्ञासा के लिए तार्किक शक्ति होनी चाहिए। विद्यार्थी में तार्किक शक्ति अच्छी होती है तो वह गुरु को भी सोचने के लिए बाध्य कर देता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के बचपन का एक संस्मरण है। वे मुनि तुलसी के पास संस्कृत व्याकरण पढ़ते थे। संस्कृत व्याकरण में शब्दों को, धातु रूपों को सिद्ध किया जाता है। मुनि तुलसी ने कहा—जिन शब्द के आगे सि विभक्ति लगाने पर जिनः शब्द रूप निष्पन्न होता है। श्री महाप्रज्ञ ने तर्क किया कि सि क्यों लाए, ति क्यों नहीं लाए? स्कूल, कॉलेज आदि में जो छात्र-छात्राएं पढ़ते हैं, वे अपने अध्यापक से तर्क करें। इस तर्क बुद्धि से ज्ञान ज्यादा स्पष्ट होता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**मूकस्तर्क विवर्जितः।** जिसमें तर्कशक्ति नहीं है वह आदमी मूक होता है।

तीसरी बात बताई कि गुरु की सेवा करो। सेवा करोगे तो मेवा मिलेगा। सेवा करने पर गुरु क्या देंगे? उत्तर देते हुए गीताकार ने कहा कि तत्त्वदर्शी गुरु तुम्हें ज्ञान देंगे। विनम्रता, जिज्ञासा और सेवा से गुरु प्रसन्न होंगे और प्रसन्न होकर तुम्हें ज्ञान देंगे। हमारे धर्मसंघ में ज्ञान ग्रहण की अच्छी परम्परा है। गुरु से ज्ञान लेना है तो पहले वंदना करो। गुरु के पास विनय से बैठो फिर ज्ञान लो। केवल आचार्य ही नहीं और भी बड़े साधु-साध्वियां जो जानकार हैं, ज्ञानी हैं, उनसे भी ज्ञान ग्रहण करने की यही विधि है। बड़ों की सेवा करनी चाहिए और

उनसे ज्ञान लेना चाहिए। सेवा दो और ज्ञान लो—यह आदान-प्रदान करना चाहिए। बड़ों के पास ज्ञान है और छोटों के पास सेवा देने की शक्ति है, इसलिए दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाएं। उत्तराध्ययन सूत्र में भी इसी प्रकार की बात आई है—**तस्सेसमग्गो गुरुविद्धसेवा।** वृद्धों की सेवा करो, गुरु की सेवा करो तब तुम्हें अच्छा ज्ञान मिलेगा, अच्छा रास्ता मिलेगा और तुम सर्वदुःखमुक्ति की ओर आगे बढ़ सकोगे। गीता और उत्तराध्ययन दोनों बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। दोनों भारतीय साहित्य की महान संपदा हैं। मैंने देखा कि दोनों में अनेक जगह तुलना होती है। गीता का सारा दर्शन मुख्यतया आत्मवाद पर आधारित है। आत्मवाद संबंधी अनेक बातें हमें गीता में मिल जाती है। ऐसा लगता है जैनदर्शन की बहुत सारी बातें गीता में आ गई हैं। दोनों ग्रन्थों के आधार पर व्यक्ति अपनी जीवनचर्या को संपादित करे तो आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त हो सकता है।

३८

नौका से पार पहुंचो

धार्मिक साहित्य में संसार को सागर माना गया है और उसको तरने के लिए नौका को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां कहीं कठिनाई होती है उसे पार करने के लिए आदमी को साधन की अपेक्षा होती है। इसी तरह संसार का पार पाने के लिए भी कोई साधन चाहिए और पापों से पार पाने के लिए साधना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।४/३६।।

श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि अर्जुन! मान लो तुम बहुत पापी आदमी हो, तुमने बहुत पाप किए हैं। पापों की नदी को तुम्हें तरना है। पापों की नदी को तरने के लिए तुम्हें साधन का उपयोग करना होगा। वह साधन होगा ज्ञान का। ज्ञानरूपी नौका में बैठ जाओ। वह ज्ञान रूपी नौका तुमको पाप रूपी नदी से पार पहुंचा देगी। ज्ञान आंतरिक अंधकार को दूर करने वाला प्रकाश है। गीता में ज्ञान को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया। कहीं ज्ञान को अग्नि कहा गया, कहीं ज्ञान को नौका भी कहा गया। विभिन्न रूपों में ज्ञान को प्रस्तुत किया गया। जैन आगम उत्तराध्ययन में भी ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है। वहां कहा गया—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।२८/३०।।

सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र का गुण नहीं हो सकता और चारित्र का गुण आए बिना कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता। कर्मों से छुटकारा मिले बिना निर्वाण नहीं मिलता यानी

निर्वाण के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। उसके बाद ही चारित्र संभव है। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र भी नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति साधु बन गया, मुखवस्त्रिका बांध ली और साधु का आचार भी पालता रहा परन्तु सम्यक् ज्ञान या सम्यक्त्व नहीं है तो उसका विशेष कल्याण नहीं होगा, साधना का ज्यादा फल उसे नहीं मिलेगा क्योंकि मूल आधार उसके पास नहीं है। किसी अंक के आगे शून्य हो तो मूल्य बढ़ जाएगा, संख्या बढ़ जाएगी पर अंकविहीन शून्य कितने भी हो जाएं, उनका क्या मूल्य है? सम्यक् ज्ञान अंक के समान है और चारित्र शून्य के रूप में है। ज्ञान के साथ चारित्र हो तो उसका मूल्य बहुत बढ़ जाएगा। आदमी सम्यक् ज्ञान का अभ्यास करे, तत्त्व को समझने का प्रयास करे। जैनदर्शन में नव तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है। नव तत्त्वों को अच्छी तरह समझने का मतलब है—सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेना। जीव-अजीव संसार की मूल चीजें हैं। तत्त्व की दृष्टि से दो तत्त्व मुख्य हैं—बंध और मोक्ष। बंध और मोक्ष में सारा तत्त्वज्ञान आ जाता है। आश्रव, पुण्य और पाप बंध का परिवार है। संवर तथा निर्जरा मोक्ष का परिवार है। बंध और मोक्ष का विस्तार नव तत्त्वों में आता है। जो इनको समझ लेता है और जीवन में प्रयोग करता है तो उसका कल्याण हो जाता है। ज्ञान प्राप्त होने के बाद चारित्र की, आचार की साधना सम्यक्तया निष्पन्न हो सकती है। इसलिए ज्ञान के अभ्यास को बड़ा महत्त्व दिया गया।

गीताकार ने ज्ञानरूपी नौका की बात कही है। नौका के लिए यहां प्लव शब्द का प्रयोग किया गया। छोटी नौका प्लव कहलाती है। उत्तराध्ययन में नाव शब्द का प्रयोग किया गया। हमें धार्मिक साहित्य में अनेक बातों में समानता मिलती है। संसार को तरने के लिए श्रीकृष्ण ने भी नौका बताई है और उत्तराध्ययनकार ने भी नौका बताई है। समानता होने पर भी कुछ असमानता है। जहां श्रीकृष्ण ने ज्ञान को नौका बताया है वहीं उत्तराध्ययनकार ने शरीर को नौका बताया है—

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।।२३/७३।।

शरीर नौका है, जीव नाविक है और संसार समुद्र है। इस शरीर रूपी नौका के द्वारा संसार सागर को तरा जा सकता है। शरीर के द्वारा साधना करें, तप करें, जप करें तो संसार समुद्र का पार पा जाएंगे। नौका दो तरह की होती

है—सछिद्र और निश्छिद्र। सछिद्र नौका में कोई बैठे तो निश्चित रूप से वह डुबा देगी। निश्छिद्र नौका में बैठकर कोई आगे बढ़े तो वह पार पहुंच सकती है। शरीर रूपी नौका में भी जब पाप रूपी छेद हो जाते हैं तो वह हमें संसार रूपी सागर में डुबो देगी। इस शरीर से हम धर्म करें तो यह निश्छिद्र नौका की भांति पार ले जाएगी। आश्रव छिद्र है। इस शरीर के द्वारा आश्रव रूपी छिद्र से पुण्य-पाप रूपी कर्मों का आगमन हो रहा है। संवर की साधना नौका को निश्छिद्र बना देती है। आश्रव हमारे चेतना रूपी आंगन को, प्रांगण को मलिन बना देता है। गुरुदेव तुलसी ने रूपक की भाषा में कहा—**म्हांरो हीरां जडियो आंगणियो कुण मैलो करग्यो रे।** हमारा चेतना रूपी प्रांगण स्वभावतः बहुत स्वच्छ है पर आश्रव उसको गंदा कर देता है।

जीवन में ज्ञानयोग का भी महत्त्व है, भक्तियोग का भी महत्त्व है और कर्मयोग का भी महत्त्व है। जैनदर्शन में इस बात को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र तीनों की युति होने पर मोक्षमार्ग बनता है। सामान्य रूप में तीनों का योग मान लें और विशेष रूप में एक-एक का अभ्यास भी हो सकता है। एक साधु ज्ञान का अभ्यास ज्यादा करता है, दिन में रात में जितना समय मिलता है वह पठन-पाठन, चिन्तन-मनन करता है यानी वह ज्ञानयोग का विशेष अभ्यास करने वाला साधु है। कोई साधु भक्तियोगी है। वह तत्त्वज्ञान की गहराई में ज्यादा नहीं जाता किन्तु जप, भजन खूब करता है। बड़ों की, पूज्यों की भक्ति करता रहता है। आराध्य की स्तुति, स्तवन करता है। तीसरा है कर्मयोगी। कर्मयोगी सेवा आदि खूब करता है। वह न ज्यादा ज्ञान करता है, न ज्यादा भक्ति करता है पर कर्मयोगी है। वृद्धों की, ग्लान की, आचार्यों की सेवा में लगा रहता है। दिन में अनेक बार उसे कहीं गोचरी आदि के लिए भेजा जाए, अन्य काम करवाया जाए, वह तैयार रहता है। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तीनों महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से किसी एक को भी पकड़ लिया जाए तो गीता की बात घटित हो जाती है। ज्ञानयोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है, भक्तियोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है और कर्मयोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है। इन तीनों का समुच्चय रूप उत्तराध्ययन में प्राप्त कर सकते हैं कि शरीर ही नौका है। ज्ञानयोग भी शरीर से होगा, भक्तियोग भी शरीर से होगा और कर्मयोग भी शरीर से होगा इसलिए तीनों का साधन शरीर है। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया है—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।** धर्म की साधना का आदिभूत साधन शरीर

होता है पर साथ में यह भी एक सत्य है कि पाप का साधन भी शरीर है। शरीर से पाप भी किया जा सकता है और शरीर से धर्म भी किया जा सकता है। शरीर से भोग भी भोगा जा सकता है तो शरीर से योग भी किया जा सकता है। गृहस्थ जीवन में भोग है तो शरीर के द्वारा योग साधना भी करनी चाहिए, अध्यात्म की साधना भी करनी चाहिए। योग युक्त शरीर नौका की तरह है। यह नौका तारने वाली है। भोगयुक्त शरीर की नौका प्राणी को, आत्मा को डुबाने वाली होती है। हम भले गीता को देखें, भले उत्तराध्ययन को देखें दोनों में तरने के लिए नौका की बात है। हमारी यह नौका आश्रव मुक्त होकर निश्छिद्र हो जाएगी तो अवश्य ही हमें पार पहुंचा देगी।

३९

ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो

दुनिया में अग्नि का बहुत महत्त्व है। अग्नि से लाभ भी होता है और अग्नि का ठीक तरह उपयोग न हो अथवा अग्नि कुपित हो जाए तो नुकसान भी हो जाता है। भगवान ऋषभ ने जनता को प्रशिक्षण दिया। अग्नि तत्त्व पैदा हुआ। लोगों ने पूछा—बाबा यह क्या है? ऋषभ ने कहा—यह अग्नि बड़ा उपयोगी तत्त्व होगा। इससे अनेक-अनेक कार्य संपादित हो सकेंगे। इसका ठीक तरह उपयोग करना सीखना होगा। अग्नि विनाशक भी है। कहीं आग लग जाती है तो दुकानें, मकान आदि जल जाते हैं। अग्नि उपयोगी है, निर्माणकारी है तो विध्वंसक भी होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।४/३७।।

श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं कि ज्ञान रूपी अग्नि से सब कर्मों को जलाया जा सकता है। वीतरागता की दिशा में आगे कैसे बढ़ें? वीतरागता के निकट पहुंचने के लिए ज्ञान का अभ्यास भी सहायक बनता है। जैसे-जैसे हमारे भीतर ज्ञान की चेतना प्रदीप्त होती है, वैसे-वैसे एक ऐसी भावनात्मक चेतना विकसित होती है जिससे वीतरागता का भाव पुष्ट होने लग जाता है। भले ही वह कुछ समय के लिए हो परन्तु बार-बार वीतरागता का भाव पुष्ट होता चला जाता है। इससे हमारी मोह की चेतना कमजोर पड़ जाती है। मोह की चेतना दुर्बल हो जाए तो मोक्ष की चेतना मजबूत हो जाएगी। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात कर देती है। वैसे ही ज्ञान का अभ्यास करते-करते हमारे पापकर्म भस्मसात हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं और आत्मा निर्मल बन जाती है।

भगवद्गीता में प्रस्तुत संदर्भ में कर्म को खत्म करने के लिए ज्ञान को

अग्नि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान की अग्नि के द्वारा सारे कर्मों का नाश किया जा सकता है। ज्ञान का महत्त्व इसलिए है कि ज्ञान के अभाव में कोई कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकता।

अज्ञान के कारण बहन ने संतों को धोवन पानी देने से इन्कार कर दिया। न देने के पीछे बहन का अपना तर्क था। भिक्षु स्वामी स्वयं उसके घर पधारे और कहा—बाईजी! पानी है?

बहन बोली—महाराज! पानी तो है पर यह पानी मैं आपको नहीं दूंगी।

भिक्षु स्वामी—क्यों, क्या बात है बाई?

बहन—महाराज! यह गंदा पानी है। यह आपको दूंगी तो मुझे अगले जन्म में ऐसा ही पानी पीने को मिलेगा। क्योंकि मैंने सुना है कि जैसा दिया जाता है वैसा ही वापस मिलता है। मैं तो ऐसा पानी नहीं पी सकती। स्वामीजी ने व्यावहारिक उदाहरण से उसकी ज्ञान चेतना को उजागर किया।

भिक्षु स्वामी—बाई! तुम्हारे घर में गाय है?

बहन—हां महाराज।

भिक्षु स्वामी—तुम गाय को खाने के लिए क्या देती हो?

बहन—गाय को तो घास डालती हूं।

भिक्षु स्वामी—बहन! वापस गाय तुम्हें क्या देती है?

बहन—गाय तो दूध देती है।

भिक्षु स्वामी—तुमने तो कहा था कि जैसा दूंगी वैसा मिलेगा। तुम गाय को घास देती हो और वापस दूध पाती हो। इसका मतलब है जैसा देना वैसा मिलना आवश्यक नहीं होता। तुम संतों को यह पानी दोगी तो उसका तुम्हें अच्छा फल मिलेगा।

बहन की ज्ञान चेतना जगी और वह पानी बहराने को तैयार हो गई। संत उसको नहीं समझा सके, आचार्य भिक्षु ने उसको समझा दिया। यह बड़ों का बड़प्पन है। गुरुओं के ज्ञान का महत्त्व है। किसको किस प्रकार समझाना? यह गुर गुरुओं को ज्ञात होता है। हम किसी को समझाएं, किसी की ज्ञान चेतना जगा दें तो कितना बड़ा काम होता है। व्याख्यान और बातचीत के माध्यम से ज्ञान दिया जा सकता है। मेरा तो मानना है कि व्याख्यान में कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। लोग कम आएं या ज्यादा, अपना काम शुरू कर देना

चाहिए। दुकानदार अपनी दुकान ठीक समय पर खोल देता है। दुकान खोल देने के बाद ग्राहक तो अपने आप आते रहेंगे। हमारी दुकान है ज्ञान की। साधु अपनी दुकान खोल दे फिर ग्राहक तो अपने आप आते रहेंगे। यह हमारा काम है। जहां जब मौका मिले साधु को व्याख्यान देना चाहिए। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में बड़ी सुंदर बात कही है—

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम्।
आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति।।

श्रम की परवाह मत करो। श्रम की परवाह किए बिना व्याख्यान देना चाहिए, उपदेश देना चाहिए। जो हितोपदेश देता है वह अपना भी कल्याण करता है, अपनी कर्म निर्जरा करता है और दूसरे पर भी अनुग्रह करता है। दूसरे का भी उद्धार होता है। इसलिए वक्ताओं को श्रम का विचार न कर श्रेयोमार्ग का उपदेश देना चाहिए। आचार्य भिक्षु यदि श्रावक नहीं आते तो साधुओं को व्याख्यान फरमा देते। जितना ज्ञान अपने पास है दूसरों को यथासंभव देना चाहिए और जो ज्ञानी है उनसे ज्ञान लेना भी चाहिए। ज्ञान देना और लेना, दोनों ही साधना के पक्ष हैं। जैसे और चीजों का दान होता है वैसे ज्ञान का भी दान होता है। ज्ञान देने वाले का भी ज्ञान पुष्ट होता है और सुनने वाले को भी ज्ञान मिलता है। जैन वाङ्मय में ज्ञान का विशेष माहात्म्य बताया गया है।

जयाचार्य द्वारा रचित साहित्य विभिन्न प्रकार का है। उसमें तत्त्वज्ञान भी है, आगमों की व्याख्या भी है और कथानकों का भी समावेश है। जयाचार्य के साहित्य में एक कथा आती है। एक सेठ व्यापार करने के लिए दूर देश गया। वहां गाय नहीं होती थी इसलिए वह अपनी गाय को भी साथ ले गया। वहां का राजा राजी न हो तो फिर व्यापार की पूरी व्यवस्था ठीक नहीं बैठ पाती। उसने सोचा कि राजा को भी प्रसन्न करना चाहिए। इस क्षेत्र में गाय, दूध कुछ नहीं होता। यदि दूध और दूध से बनी चीजें उपहार में दूंगा तो राजा खुश हो जाएगा। वह एक दिन एक कटोरी में गरम दूध, ऊपर मेवे की कतरन, केशर डालकर ले गया और राजा को भेंट किया। राजा ने दूध पिया, बड़ा स्वादिष्ट लगा। राजा खुश हो गया। सेठ को भी अच्छा सूत्र हाथ लग गया। वह कभी इलायची डाला हुआ छन्ना, कभी मावे के पेड़े, कभी दही, कभी श्रीखंड लेकर जाता। कई वर्षों तक वह वहां रहा। राजा को यदा कदा गोरस से निष्पन्न चीजें खिलाता रहा। राजा का भी व्यापार में सहयोग मिलता रहा।

एक दिन राजा ने पूछा—तुम ये फल कहां से लाते हो?

सेठ—मेरे पास एक पेड़ है। उसके ये फल लगते हैं।

जब सेठ का वापस जाने का समय आया और वह राजा से मिलने गया तो राजा ने कहा—सेठ साहब! आप तो जा रहे हैं, अब वो चीजें मुझे कौन खिलाएगा?

सेठ—आपकी आज्ञा हो तो वह पेड़ मैं यहीं छोड़ दूं, इसके फल आपको मिलते रहेंगे।

राजा—ठीक है, मेरे कर्मचारी को पेड़ सौंप देना। वह मुझे फल लाकर देता रहेगा।

सेठ ने कर्मचारी को गाय सौंप दी और कहा—इससे जो निकले वह राजा को दे देना। कर्मचारी को गाय संबंधी ज्ञान नहीं था। वह बरतन पास में लेकर बैठ गया। कुछ देर बाद गाय ने पेशाब किया। कर्मचारी ने बरतन में भर लिया। तत्काल राजा के पास गया, कहा—महाराज! यह फल उस पेड़ ने दिया है। राजा ने खुश होते हुए थोड़ा सा गोमूत्र पीया और बोला—छी-छी, मुंह खराब हो गया। यह बहुत गंदी चीज है। अब वह पेड़ जो फल दे वह लेकर आना। इस बार गाय ने गोबर किया। कर्मचारी ने फिर बरतन भर लिया, राजा के पास ले गया और बोला—महाराज! इस बार तो गरम-गरम चीज दी है।

राजा—अच्छा! लाओ इसे मैं खाऊंगा।

राजा ने एक ग्रास मुंह में लिया और बोला—छी-छी, क्या लाए हो तुम? ये तो गंदी चीजें आनी शुरू हो गई।

कर्मचारी—महाराज! मैं तो पेड़ की दी हुई चीजें ला रहा हूं।

राजा—सेठ बड़ा धूर्त निकला। लगता है असली पेड़ ले गया और कोई नकली पेड़ यहां पर छोड़ गया।

राजा ने कर्मचारियों को बुलाया और आदेश दिया—जाओ, उस सेठ को गिरफ्तार करके लाओ। सेठ कुछ दूर ही गया था। राजा के कर्मचारी उसे पकड़कर लाए।

राजा—भाई! तुम्हें मैं ही मिला धोखा देने के लिए। असली पेड़ तो तुम ले गए और यहां नकली पेड़ छोड़ दिया।

व्यापारी—पेड़ तो वही है जिसके फल मैं यहां आपके पास लाता था।

राजा ने गोमूत्र और गोबर की तरफ संकेत करके कहा—देखो, यह तो ये

चीजें दे रहा है। व्यापारी समझ गया।

महाराज! इस बार आपके सामने मैं वह फल निकालता हूं। गाय को राजा के सामने ले गया और बैठकर दूध दुहा। दूध को गर्म किया, राजा को पिलाया, वही स्वादिष्ट वस्तु आ गई।

व्यापारी ने निवेदन किया—महाराज! पेड़ तो वही है। आपके कर्मचारी को ज्ञान नहीं था, क्या चीज लेना, क्या नहीं लेना? राजा की समझ में सारी बात आ गई। अज्ञान ही कष्ट है। अतः अज्ञान से बचकर ज्ञान की आराधना में समय नियोजन करना चाहिए। इससे समय का सदुपयोग भी होता है और कर्म-नाश का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

४०

अनासक्त रहो

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई।।२५/४०।।

मिट्टी के दो लड्डू किसी ने दीवार पर फेंके। एक लड्डू गीला था, एक सूखा था। जो लड्डू सूखा था वह दीवार के लगा और नीचे गिर गया। मिट्टी दीवार के चिपकी नहीं। जो गीला लड्डू था उसकी मिट्टी दीवार पर चिपक गई। इस उदाहरण के माध्यम से शास्त्रकार ने यह समझाने का प्रयास किया है कि चिपकता वह है जिसमें आर्दता होती है। जिसमें आर्दता नहीं होती वह चिपकता नहीं है। आदमी के जीवन में जहां आसक्ति का चेप होता है, चाहे वह कार्य के साथ हो, व्यक्ति के साथ हो या पदार्थों के साथ हो, कर्मों का बंधन ज्यादा सघन होता है। यदि वही कार्य अनासक्ति से किया जाता है तो कर्म-बंधन नहीं होता। जब तक शरीर है आदमी को विभिन्न प्रकार के कार्य करने होते हैं। आदमी भोजन करता है, मनोज्ञ पदार्थों को खूब प्रशंसा करते हुए खाता है, उसमें लिप्त हो जाता है तो उसके सघन कर्मों का बंध हो सकता है। वहीं दूसरा आदमी इस भावना से खाना खाता है कि शरीर को पोषण देना है। वह मनोज्ञ पदार्थों के प्रति आसक्ति का भाव नहीं रखता तो उसके कर्म का बंधन भी विशेष नहीं होता है। एक ही कार्य में कर्म के बंधन में अन्तर आ जाता है। इसके पीछे आदमी की भावना का प्रभाव पड़ता है।

जो सम्यक् दृष्टि धार्मिक श्रावक होते हैं वे परिवार में रहते हैं, परिवार का भरण-पोषण करते हैं परन्तु आसक्ति में नहीं फंसते, अन्तर मन से अलग रहते हैं। जैसे धाय माता राजा के लड़के का पालन-पोषण करती है। बड़े स्नेह भाव से उसको संभालती है परन्तु अन्तर मन में इस बात का अनुभव करती

रहती है कि बच्चा आखिर मेरा नहीं है, बच्चा तो राजाजी का है। मेरा काम तो इसकी सेवा करना है। वह भरण-पोषण करते हुए भी बच्चे के प्रति आसक्ति नहीं रखती है। सेवा की दृष्टि से भले अपनत्व हो जाए पर वास्तव में 'मेरा बच्चा है' यह भाव उसमें नहीं आता है। इसी तरह श्रावक यह सोचे कि मैं परिवार में रहता हूं, परिवार का भरण-पोषण करता हूं परन्तु आखिर परिवार मेरा नहीं है। जैसा कि आयारो में कहा गया—

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं वोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा वोसेज्जा। नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा। आदमी जिनके साथ रहता है, वे आत्मीयजन कभी (शैशव या अर्थाभाव में) उसके पोषण की पहल करते हैं। बाद में वह भी उनका पोषण करता है। ऐसा होने पर भी हे पुरुष! वे तुम्हें त्राण या शरण देने में असमर्थ हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो। कोई किसी का अन्तिम त्राण या शरण नहीं होता। शरीरधारी प्राणी अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह अलग बात है कि कोई ट्विन्स पैदा हो सकता है या उससे भी ज्यादा बच्चे एक साथ पैदा हो सकते हैं किन्तु सामान्यतया आदमी अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। एकत्व भावना की बार-बार अनुप्रेक्षा की जाती है, चिंतन किया जाता है तो अनासक्ति की चेतना का विकास हो सकता है। यदि व्यक्ति के प्रति आसक्ति होती है, पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है तो आदमी यह सोचे कि व्यक्ति, पदार्थ आदि सब नश्वरधर्मा हैं। ये सब चीजें मेरे साथ नहीं जाने वाली हैं। जो साथ नहीं जाने वाली हैं, उनके प्रति ज्यादा मोह क्यों करूं? यह अमोह की चेतना का विकास है।

हमारे सामने दो मार्ग हैं—एक मोह का मार्ग और दूसरा मोक्ष का मार्ग। मोह का मार्ग संसार में परिभ्रमण कराने वाला है और मोक्ष का मार्ग परम निर्वाण तक पहुंचाने वाला है। एक संन्यासी कहीं जा रहा था और सामने से राजा शिकार करके आ रहा था। राजा के मन में संदेह हो गया कि महल का रास्ता यही है या कोई दूसरा है? सोचा, बाबाजी से पूछ लूं?

राजा—बाबाजी! राजप्रसाद का रास्ता कौनसा है?

संन्यासी ने राजा को ध्यान से देखा तो पता चला कि राजा तो शिकार खेल कर आया है। इसके पास मरा हुआ खरगोश है। राजा को समझाना चाहिए ताकि इसका जीवन अच्छा बन सके, इसकी आत्मा का कल्याण हो

सके।

संन्यासी ने अपने ढंग से जवाब दिया—राजन्! मैं दो रास्ते जानता हूं। एक तो अधोगति का मार्ग और एक उर्ध्वगति का मार्ग। एक नरक आदि में ले जाने वाला रास्ता, दूसरा मोक्ष में ले जाने वाला रास्ता। हिंसा अधोगति का मार्ग है और अहिंसा मोक्ष का मार्ग है। तुम्हें कौनसा रास्ता चाहिए? राजा बड़ा संबुद्ध था। वह समझ गया कि मुझे उपदेश दिया जा रहा है। राजा ने जिन्दगी भर शिकार नहीं करने का संकल्प ले लिया। त्याग, संयम, अहिंसा यह मोक्ष का मार्ग है। आदमी मोक्ष मार्ग और मोह मार्ग दोनों को समझकर मोह मार्ग से हटने का प्रयास करे। मोह को कम करना, राग-द्वेष को कम करना, आसक्ति को छोड़ना, यह अध्यात्म की साधना है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही कहा गया है कि अनासक्ति के साथ कर्म करो। श्रीकृष्ण कहते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।१८/४९।।

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अंतःकरण वाला पुरुष संन्यास के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है।

जैन तत्त्व विद्या के अनुसार पूर्णतया निष्कर्म स्थिति चौदहवें गुणस्थान में आती है। तेरहवें गुणस्थान में साधु केवली बन जाता है फिर भी प्रवृत्तिमान रहता है। चौदहवें गुणस्थान में प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और साधु पूर्णतया निष्कर्म हो जाता है। अनासक्ति में जो आनंद है वह परम होता है। आसक्ति से मिलने वाला आनंद तो क्षणिक है। इस प्रकार उत्तराध्ययन और गीता में कहा गया कि साधना के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा, आत्मविजय के द्वारा इच्छाओं का त्याग कर आदमी परम निष्कर्मता की सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

४१

भीतर रहो

अध्यात्म जगत का केन्द्रीय तत्त्व है आत्मा। आत्मा है तो धर्म है। अगर आत्मा ही न हो तो धर्म का सक्षम आधार ही नहीं रहेगा। वर्तमान जीवन के बाद आगे कोई जीवन नहीं है अथवा इस जीवन से पहले कोई जीवन नहीं था, इस मान्यता के आधार पर तो साधना की पुष्ट स्थिति ही नहीं रहेगी। साधना की उपयोगिता अथवा महत्ता पर भी प्रश्नचिह्न लग सकता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शाश्वत है। तदनुसार इस जीवन से पहले भी कुछ था और बाद में भी कुछ रहेगा। जब तक आत्मा कर्मबद्ध रहती है तब तक भव-भ्रमण करती रहती है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' की यात्रा चलती रहती है। यह यात्रा तो हर चेतन को करनी होती है।

हमारी दुनिया मात्र दो तत्त्वों का योग है—चेतन और अचेतन। आदमी का जीवन भी इन दो तत्त्वों के योग से बना है। शरीर अचेतन तत्त्व है। उसके भीतर विराजमान चेतन तत्त्व है। शरीर चलता है, बोलता है, अन्य क्रियाएं करता है यह तभी संभव है जब चेतना नाम का तत्त्व इसमें सन्निहित होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।१३/२७।।

एक परमेश्वर नाम का तत्त्व अथवा यों कहें कि आत्मा नाम का तत्त्व सभी प्राणियों में समानरूप से विद्यमान रहता है। एक चींटी में भी चैतन्य होता है, एक हाथी में भी चैतन्य होता है और एक आदमी में भी चैतन्य होता है। चाहे छोटा जन्तु हो या बड़ा जन्तु हो, सबमें एक समान चेतना की धारा प्रवाहित होती है। चेतना अलग-अलग है पर उसमें समानता है। जैसी चेतना छोटे प्राणी में होती है, वैसी ही चेतना बड़े प्राणी में होती है। शरीर छोटा

मिलता है तो चेतना छोटे में फैल जाती है और शरीर बड़ा मिलता है तो चेतना बड़े में फैल जाती है। जैसे एक प्रज्वलित दीपक पर छोटा सा बर्तन ढ़क दिया जाता है तो प्रकाश उस छोटे से बर्तन में फैल जाता है और बहुत बड़ा बर्तन ढ़क दिया जाता है तो प्रकाश उस बड़े बर्तन में फैल जाता है। यदि आवरण हटा दिया जाता है तो जितना स्थान मिलता है उसकी संभाव्यता के अनुसार प्रकाश फैल जाता है। इसी तरह हमारी चेतना को शरीर रूपी ढक्कन जितना बड़ा मिलता है वह उतने में प्रसरित हो जाती है।

शरीर में अवस्थित चेतना को जो देखता है, वह वास्तव में आध्यात्मिक द्दष्टा पुरुष होता है। हम शरीर का ध्यान रखते हैं। शरीर को भोजन देते हैं। शरीर की चिकित्सा कराते हैं। पर शरीर आखिर विनाशधर्मा है। इस विनाशधर्मा शरीर में चैतन्य अविनाशधर्मा है। इस चैतन्य/आत्मा को देखना विशेष बात है। गीता में प्रश्न किया गया कि आत्मा क्या है? तब श्रीकृष्ण ने कहा–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।२/२३।।

आत्मा वह तत्त्व है जिसे शास्त्र छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी आर्द्र नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती।

आत्मा न तो कभी पैदा होती है और न कभी मरती है। उसका कोई आरंभ नहीं है इसलिए उसका अन्त भी नहीं है। आत्मा नित्य है, शाश्वत है। शरीर भले खत्म हो जाए परन्तु आत्मा कभी खत्म नहीं होती है। आत्मा की नित्यतता के संदर्भ में गीताकार ने अनेक श्लोकों में सुन्दर विश्लेषण किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी आत्मा के बारे में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा नाम का जो तत्त्व है वह शाश्वत है। वहां कहा गया है–

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा वि य होई निच्चो।।

आत्मा नाम का तत्त्व है वह अमूर्त्त है इसलिए इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह अमूर्त्त है इसलिए नित्य है।

हमारी इन्द्रियां उसी चीज को ग्रहण करती है जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श होता है। शब्द मूर्त्त है। कोई शब्द कान में आता है उसका ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा हो सकता है। रूप मूर्त्त है वह सामने आता है, उसका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा हो सकता है। सुगन्ध या दुर्गन्ध पौद्गलिक होती है वह नाक में जब आती है तो उसका ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से हो सकता है। कोई भोज्य

या पेय पदार्थ जिह्वा पर आता है, वह भी पौद्गलिक है। उसका ज्ञान रसनेन्द्रिय से हो सकता है और गर्म, ठण्डा आदि स्पर्श का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा हो सकता है। पुद्गल का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है क्योंकि पुद्गल मूर्त्त है और इन्द्रियां मूर्त्त को ग्रहण कर सकती है। आत्मा अमूर्त्त है। अमूर्त्त का ज्ञान इन्द्रियां नहीं कर सकती। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। नाश उसी का होता है जो मूर्त्त है, पौद्गलिक है। शरीर पौद्गलिक है उसका नाश हो सकता है यानी परिवर्तन हो जाता है परन्तु आत्मा अमूर्त्त है उसका विनाश नहीं होता।

जैनदर्शन में दो नय बताए गए हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय पर विचार किया जाए तो पदार्थ, तत्त्व आदि अविनाशधर्मा हैं और पर्यायार्थिक नय से विचार किया जाए तो उसमें परिवर्तन होता रहता है। एक अवस्था समाप्त हो जाती है और दूसरी अवस्था प्राप्त हो जाती है। आत्मा नाम का जो तत्त्व है वह द्रव्य है और स्थायी है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त पदार्थ ही सत् होता है। एक पदार्थ में ध्रौव्य यानी स्थायित्व है तो उसमें उत्पाद और व्यय भी होता है। स्थूल उदाहरण से देखें तो आदमी जन्म लेता है तब कितना छोटा होता है, बाद में किशोर बन जाता है, युवा बन जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है। आदमी तो वही है पर उसमें अवस्थाओं का अन्तर आ जाता है। जवानी में जो जोश होता है, वृद्धावस्था में वह कमजोर हो जाता है। युवावस्था में जो सौन्दर्य होता है। वृद्धावस्था में उसमें भी कमी आ जाती है। चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती है। इस परिवर्तन की बात को गीताकार ने बड़े सुन्दर तरीके से समझाया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२/२२।।

आदमी वस्त्र पहनता है। जब वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तब वह उस कपड़े को छोड़कर नए कपड़े पहन लेता है। आदमी जैसे पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्रों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण कर लेती है। देहान्तरण होता है परन्तु आत्मा अपने आप में अमर है। आत्मा न तो मरती है और न ही किसी को मारती है।

मृत्यु के दो नियम ध्वनित होते हैं। मृत्यु का पहला नियम है कि जिसने देह को धारण किया है उसकी कभी न कभी मृत्यु अवश्य होगी। मृत्यु का दूसरा नियम है कि मृत्यु का होना निश्चित है पर कब होना अनिश्चित है। मैं सोचता हूं कि प्रकृति ने यह जो व्यवस्था बनाई है कि मौत अनिश्चित है कभी

भी आ सकती है, ऐसा होना अच्छा है। अगर आदमी को पहले ही ज्ञात हो जाए कि मेरा आयुष्य इतना ही है तब तो आदमी पहले से ही भयभीत हो सकता है। मेरा यह मंतव्य है कि नियति के आधार पर दुनिया चलती है। अगर कोई नियति को सर्वथा अस्वीकार कर दे तो मेरे ख्याल से जगत की सम्यक् व्याख्या करना भी कठिन हो जाएगा। गीता और उत्तराध्ययन में देह की विनाशधर्मिता की चर्चा की गई है। वहां आत्मा को अमर और अविनाशी माना गया है। इसका कारण यह है कि शरीर एक पर्याय है और आत्मा एक द्रव्य है। द्रव्य होने के कारण वह अविनाशधर्मा है और शरीर एक पर्याय है इसलिए वह विनाशधर्मा है।

आत्मा और शरीर अलग-अलग है। गुरुदेव तुलसी ने अपनी रचना 'व्यवहार-बोध' में बहुत सुन्दर कहा है–

आत्मा भिन्न, शरीर भिन्न है, एक नहीं संजोना।
है मिट्टी से मिलाजुला, पर आखिर सोना सोना।।

सोना जब खान से निकाला जाता है तब मिट्टी से लिपटा हुआ होता है, मिट्टी जैसा ही लगता है। फिर प्रक्रिया के द्वारा सोने और मिट्टी को अलग किया जाता है। जैसे सोने का अस्तित्व अलग है और मिट्टी का अस्तित्व अलग है वैसे ही आत्मा शरीर से मिलीजुली है परन्तु आत्मा का अस्तित्व अलग है और शरीर का अस्तित्व अलग है। जिनका लक्ष्य आत्मसाधना बन गया है वे विशेष रूप से आत्मा पर ध्यान दें और आत्मा के बारे में सोचें। आदमी सब कुछ करते हुए अपने भीतर रहे, उसका ध्यान आत्मा पर रहे, चेतना पर रहे। यदि हमारा आकर्षण आत्मा के प्रति हो जाए तो शरीर में रहते हुए भी आदमी मुक्त जैसा बन जाता है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

प्राप्ति स्थान

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन भारतीय साहित्य भण्डार के अमूल्य रत्न हैं। सनातन परम्परा में जहां गीता श्रद्धास्पद मानी जाती है, वहीं उत्तराध्ययन एक प्रतिष्ठित जैनागम है। परम्परा भेद होने पर भी दोनों ग्रन्थों में अनेकानेक साम्यताएं हैं। दोनों ग्रन्थों में वर्णित साधना के गहरे सूत्र अध्यात्म की ऊंचाइयों पर ले जाने वाले हैं।

आचार्य श्री महाश्रमण एक ऐसे सन्त हैं, जिनके लिए पन्थ और ग्रन्थ का भेद बाधक नहीं बनता। आपके प्रवचन सर्वजनहिताय होते हैं। हर जाति, वर्ग, क्षेत्र और सम्प्रदाय की जनता आपके प्रवचनों से लाभान्वित होती रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर आधारित अपनी प्रलम्ब प्रवचन शृंखला में आपने दोनों ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को सरलभाषा में प्रस्तुत किया है। एक जैनाचार्य द्वारा उत्तराध्ययन की भांति गीता की भी अधिकार के साथ सटीक व्याख्या करना आश्चर्यजनक है। प्रस्तुत है उस महनीय प्रवचनमाला का प्रथम ग्रन्थ.....

ISBN 81-7195-187-2

₹60.00